[ विराट् ब्रह्म ]

# श्री भागवत दर्शन

## भागवती कथा

खण्ड ६८

## [ उपनिषद् अर्थ ]

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनासि विचिन्वता ।
प्रणीत प्रभुदत्तेन श्रीभागवतदर्शनम् ॥


लेखक

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी



प्रकाशक

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर

(झूसी) प्रयाग

प्रथम संस्करण १००० } अगस्त १९७२ भाद्रपद सं०–२०२९ { मूल्य १।।२, रु०

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग ।

॥ श्रीहरिः ॥

## क्षमा याचना और एक शंका का समाधान

अबके यह ९८ वाँ खण्ड लगभग डेढ़ महीने की देरी से पाठकों की सेवा में पहुँच रहा है। इसका एक विशेष कारण है। आयुर्वेद में १०१ मृत्यु बतायी हैं। जिनमें १०० को तो अकाल मृत्यु कहा है, एक को यथार्थ-अपरिहार मृत्यु बताया है। १०० अकाल मृत्यु तो चिकित्सा उपचार द्वारा हटायी जा सकती हैं। एक जो अपरिहार्य मृत्यु है वह नहीं हटाई जा सकती। अबके एक अकाल मृत्यु का ही सामना करना पड़ा।

कार्तिक कृष्णा अष्टमी का दिन था, आश्रम के छात्रों ने एक उत्सव का आयोजन कर रखा था। गुरु भक्त एकलव्य का अभिनय खेलने की सब तैयारी कर रहे थे। रंगमंच तैयार हो गया था। नाटक के पात्र सज रहे थे। सहसा रङ्ग-में-भङ्ग पड़ गयी। दूध पीते ही एक कै हो गयी, उसी समय अचेतावस्था हो गयी। शरीर स्वेदयुक्त हो गया, आँखें फट गयीं। शरीर शिथिल हो गया, अंग अकड़ गये। यह अवस्था रही तो ३-४ मिनट किन्तु इससे आश्रम भर में हलचल मच गयी। समस्त छात्र अपने-अपने वस्त्रादि फेंककर एकत्रित हुए। ४-५ मिनट के पश्चात् ही चेत हो गया। साहस करके अभिनय में जाकर लेट गये। बालकों का उत्साह भङ्ग न हो। अभिनय हुआ किन्तु उतने उत्साह से नहीं। शरीर में निर्बलता तो आ ही गयी थी।

आश्रम के लोगों ने घबराहट में नगर से चिकित्सक को बुलाया। उसने देखा, मैंने बहुत कहा—कुछ भी नहीं हुआ है। तनिक-सी बात का लोगों ने तूल-बना दिया है, फिर भी चिकि-

रसक ने कहा—'पूर्ण विश्राम लेने की आवश्यकता है।" मैंने भी सोचा—"तीन वर्षों से निरन्तर स्वाध्याय, प्रवचन, लेखन चल रहा है, तनिक विश्राम भी कर ही लो।" सो एक महीने तक लिखना-पढ़ना सब बन्द रखा।

इसके दूसरे दिन हँसी-हँसी में एक लड़के ने कहा—"महाराजजी, ये संघ वाले आपके नाम के पीछे सत लगाते हैं। पजाब में भी संत फतहसिंह थे। यमदूत फतहसिंह को लेने आये होंगे। संत के धारो में वे पजाब न जाकर भूसी चले आये होंगे। जब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई होगी, तो वे तुरन्त यहाँ से अमृतसर चले गये होंगे। यह घटना रात्रि में ९-१० बजे की थी। उसी रात्रि में १०॥ बजे सत फतहसिंह चल बसे।"

बात हँसी की थी, मनोरञ्जन के लिये कही गयी थी, किन्तु उस घटना का शरीर पर प्रभाव तो पड़ा है। भोजन में, पानी में, अरुचि, शरीर का भारीपन, शिथिलता, अधिक आराम करने की इच्छा बनी ही रही। अतः एक महीने पूर्ण विश्राम लिया। इसीलिये यह अंक दो ढाई महीने के पश्चात् निकल रहा है पाठक इस विवशता की देरी के लिये क्षमा करें। अब भगवत्कृपा हुई तो आगे के खण्ड समय पर निकलते रहेंगे। यह तो हुई क्षमा याचना। अब एक पाठक की शका का भी समाधान सुन लीजिये।

भागवती कथा के एक नियमित पाठक ने बहुत क्षमा याचना करते हुए बड़े संकोच के साथ एक शङ्का की है, और उसका उत्तर माँगा है। उनका कथन है भागवती कथा सूत शौनक सम्वाद के माध्यम से कही गयी है। पुराणों की कथा के सम्बन्ध में तो यह क्रम उचित ही था, क्योंकि सभी पुराण सूत शौनक के सम्वाद रूप में कहे गये हैं। किन्तु अब आप जो उपनिषद्-अर्थ

लिख रहे हैं। उसे तो गुरु शिष्य संवाद के माध्यम से लिखना चाहिये था। सूत को तो वेदाध्ययन का अधिकार ही नहीं था। वे तो केवल पुराणों के ज्ञाता थे, व्यासजी ने उन्हें वेदों का अनाधिकारी मानकर केवल पुराणों का ही अधिकार दिया था। फिर आपने उपनिषद्-अर्थ को भी सूत शौनक सम्वाद के रूप में क्यों लिखा ?

इसका उत्तर है कि, जब पुराणों की, गीता आदि की लौकिकी भाषा में कथा हो चुकी तब ८५ वें खण्ड में शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आपकी कथा कहने की शैली बड़ी ही सुन्दर है, भागवत, गीता की कथा तो हमने सुनली। भागवत ब्रह्मसूत्र तथा सभी उपनिषदों का अर्थ है। सो कृपा करके हमें उपनिषदों का अर्थ और सुना दीजिये।"

इस पर सूतजी ने कहा—"भगवान् वेदव्यासजी ने हमें पुराणों के ही पठन-पाठन की आज्ञा दी है। वेदों के अध्ययन अध्यापन की हमें आज्ञा नहीं है। उपनिषदें तो वेद का ही भाग हैं। उन्हें सुनाना तो एक प्रकार से अनधिकार चेष्टा ही होगी। अतः कृपा करके आप मुझे उपनिषद् सुनाने की आज्ञा न दें।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"जैसे आपने वेदों के अर्थ को पौराणिकी भाषा में व्यक्त किया है वैसे ही वेदान्त उपनिषदों के अर्थ को लौकिकी भाषा में व्यक्त कीजिये। उपनिषदों के मूल मन्त्रों को हम बोल दिया करेंगे। आप उसका भावार्थ तो हमें सुना ही देंगे। क्योंकि वेदों के अर्थ को वह कदापि नहीं जान सकता, जिसने विधिवत् पुराणों को तथा महाभारतादि इतिहासों को न पढ़ा हो। आप तो इतिहास पुराणों में पारंगत हैं। आप ही भली भाँति उपनिषदों को समझा सकते हैं। हमें आप सर्व-साधारण लौकिकी भाषा में उनका अर्थ समझा दें।"

तब सूतजी ने उपनिषद् अर्थ सुनाना स्वीकार किया।

भागवती कथा के ८५ वें खण्ड के ३७ ३८ पृष्ठ पर इतना समाधान पढने पर तो शका के लिये कोई स्थान रह ही नहीं जाता। हाँ, एक शका कर सकते हैं, कि जब सूतजी को वेदों के अध्ययन का अधिकार ही नहीं था, तो उन्होंने उपनिषदों को पढा कैसे ? जब उन्होंने पढा ही नहीं तो वे उसका अर्थ कैसे बतावेंगे ?

इसका उत्तर यह है कि सूतजी ने वेदों को, उपनिषदों को, इतिहास पुराणों को पढा तो था। उन्हें वेदों के अध्ययन का तो एक प्रकार से अधिकार प्राप्त था। साक्षात् वेदो के पढाने का अधिकार नहीं था। पद्मपुराण के भूमिखण्ड के २८ वें अध्याय मे पृथु चरित्र के वर्णन मे सूत का लक्षण वर्णन किया है।

ऐसे वचन पुराणों में सर्वत्र मिलते हैं। सूत को वेदवेदान्तों का तत्वज्ञ बताया है। उसके द्वारा लौकिकी भाषा मे उपनिषदों का अर्थ कहना न अनुचित है और न परम्परा के विरुद्ध ही है। अब पाठक उपनिषदों के अर्थ को मनोयोग से पढ़ें और परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करें कि भागवती कथा के कम से कम १०८ भाग तो छप ही जायँ। "अधिकस्य अधिक फलम्" अधिक चाहे जितने भी हो जायँ।

संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
झूसी (प्रयाग)
पौष कृष्णा—११। २०२९ वि०

# विषय-सूची


| विषय | | पृष्ठाङ्क |
|---|---|---|
| १. संस्मरण (१७) | ... | १ |
| २. श्वेताश्वतरोपनिषद् | ... | १५ |
| ३. संसार सरिता को पार करके प्रभुप्राप्ति का उपाय | | २६ |
| ४. ब्रह्म का स्वरूप और ब्रह्मप्राप्ति का फल | ... | ३६ |
| ५. प्रणव जप द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार | ... | ४७ |
| ६. स्तुति पाठ | ... | ५२ |
| ७. ध्यान की विधि और उसका फल | ... | ६२ |
| ८. परमात्म प्राप्ति का फल (१) | ... | ७४ |
| ९. परमात्मा और उनकी प्राप्ति का फल (२) | ... | ८२ |
| १०. परमात्मा और उनकी प्राप्ति का फल (३) | ... | ९१ |
| ११. जगदीश्वर स्तुति | ... | ९७ |
| १२. परमात्म स्वरूप और उनसे मुक्ति की प्रार्थना | | १०५ |
| १३. परमात्मा और जीवात्मा | ... | ११४ |
| १४. जीव का जन्म-मरण और उससे छूटने का उपाय | | १२३ |
| १५. सबके कर्ता एकमात्र परमेश्वर ही उपास्य हैं | ... | १३२ |
| १६. प्रभुप्राप्ति का उपाय शरणागति | ... | १४१ |
| १७. ब्रह्मविन्दु, कैवल्य और जाबाल उपनिषद् सार | | १५१ |
| १८. हंस, आरुणिक और गर्भ उपनिषद् सार | ... | १६० |
| १९. नारायणाथर्वशिर, महानारायण तथा परमहंस उपनिषद् सार | ... | १७८ |

# संस्मरण

## [ १७ ]

### [ सुरसरि के तट-तट झूसी तक ]

या वै लसच्छ्रीतुलसीविमिश्र
कृष्णाङ्घ्रिरेण्वभ्यधिकाम्बुनेत्री ।
पुनाति लोकानुभयत्र सेशान्
कस्तां न सेवेत मरिष्यमाणः ॥*
(श्री भा० १ स्क० १९ अ० ६ श्लो०)

**छप्पय**

*गंगे ! तव तट निकट निवसि नित नियम निभाऊँ ।*
*गंगे ! तव जल बनी प्रसादी प्रभुकी पाऊँ ॥*
*गंगे ! तव पय पिऊँ नियमतैं नित्य नहाऊँ ।*
*गंगे ! तजि तव तटहिँ अनत नेंकहुँ नहिँ जाऊँ ॥*
*गंगे ! यदि जानों परै, तरुणि तनूजा तट निकट ।*
*गंगे ! नटखट जित बसत, वंशीबट को सुभट पिट ॥*

---

* सकल सुर वन्दिता भगवती सुरसरि सलिल तुलसीजी की गन्ध से सम्मिश्रित है, इसलिये कि वह श्रीकृष्ण भगवान् के चरणारविन्दों का पराग लेकर प्रवाहित होता है (तुलसीजी सदा चरणों मे पड़ी ही रहती हैं) इसीलिये यह पावनपय लोकपालों के सहित समस्त ऊपर नीचे के लोकों को पवित्रता से परिप्लावित करता रहता है, ऐसा कौन मरणशील पुरुष होगा, जो ऐसी गंगाजी का सेवन न करे ?

संसार से वैराग्य भाग्यशाली व्यक्तियों को ही होता है। ब्रह्माजी ने इस संसार चक्र को इस ढँग से बनाया है, कि इसमें से निकलना–इसे पार करना–अत्यन्त ही कठिन है। जैसे कोई नदी के दलदल में फँस जाय और फिर वह उससे निकलने का प्रयत्न करे तो वह जितना ही निकलने का प्रयत्न करेगा उतना ही और फँसेगा। कोई विरले ही वैराग्य के सहारे ममता मोह का परित्याग करके भगवान् को तत्वतः प्राप्त कर सकते हैं। किसी कवि का वचन है—

चलन चलन सब कोइ कहें, विरला पहुँचे कोइ ।
इक कंचन इक कामिनी, घाटी दुरलभ दोइ ॥

कामिनी कांचन का आकर्षण इतना प्रवल है कि अच्छे से अच्छे साधक इनमें फँस जाते हैं। किसी प्रकार इन दो घाटियों को पुरुष पार भी कर जाय, तो एक तीसरी घाटी इन दोनों से भी अधिक कठिन है। कहा है—

कंचन तजनो सहज है, सहज त्रिया को नेह ।
मान बड़ाई ईर्ष्या, दुरलभ तजनो एह ॥

कामिनी, कांचन और कीर्ति ये ही संसार में बाँधने वाली तीन रस्सियाँ हैं। इन्हें काटकर ही कोई वैराग्यराग-रसिक भक्ति-निष्ठ बन सकता है। वास्तव में देखा जाय तो, वैराग्य भी एक प्रकार से अज्ञान का ही द्योतक है। जिसे संसार से राग होगा, उसे ही वैराग्य संभव है, जो वीतराग है, ब्रह्मनिष्ठ है उसे वैराग्य की क्या आवश्यकता ? निर्धन ही धन के लिये प्रयत्न करेगा, जो कुबेर समस्त सम्पत्ति का स्वामी है, उसका धन के लिये प्रयत्न हास्यास्पद है।

भाग्य ने मुझे असहयोग आन्दोलन में लखनऊ कारावास में पहुँचा दिया। वहाँ उत्तर प्रदेश के प्रायः समस्त राजनैतिक नेताओं के साथ रहने का सुयोग सहज ही प्राप्त हो गया। पचासों वर्षों में जो अनुभव नहीं होता, वह पाँच छै महीने में ही सबके साथ रहने से हो गया। उन लोगों के दैनिक जीवन, आचार, विचार, व्यवहार से बड़ा वैराग्य हुआ। ऊँची दुकान फीका पकवान। राजनैतिक व्यक्तियों में किसी का जीवन पवित्र हो, यह अपवाद है, नहीं तो वे जैसी वायु देखकर पीठ फेरने वाले होते हैं। सोचा—अब कभी राजनीति के चक्कर में न पड़ूँगा। किन्तु यह मेरा सोचना मूर्खतापूर्ण था। जब तुम किसी राज्य में रहोगे, तो उसकी नीतियों की ओर से कैसे मुख मोड़ सकते हो? इसीलिये गृहत्यागी, मौनी, फलाहारी, टाटाम्बरी होने पर भी मुझे इसके पश्चात् राज-काज में हस्तक्षेप करने के कारण कई बार पुनः कारावास जाना पड़ा।

काशी निवास काल में प्रायः सभी साहित्यसेवी पुरुषों से संपर्क रहा। संत होकर जिनके द्वारा भक्तिभाव भावित होकर साहित्य सेवा हुई है उनकी बात तो छोड़ दीजिये, किन्तु साहित्य सेवा जिनका व्यवसाय बन गया है, उनके सांसारिक जीवन को देखकर भी मुझे बड़ा वैराग्य हुआ। संस्थोपजीवी पुरुषों की तिकड़मों ने भी मेरे मन में एक कड़वाहट पैदा कर दी। मैं सोचने लगा—मुझे ऐसे जीवन बिताने से क्या लाभ होगा। मेरे घर नहीं, परिवार नहीं, कोई संस्था नहीं, किसके लिये ऐसा नीरस जीवन बिताऊँ? इन सुरा-सुन्दरियों के उपासकों के संसर्ग में क्यों रहूँ? क्यों न भगवती सुरसरि के तीर पर चलकर उस उत्तराखंड में जहाँ हमारे ऋषि महर्षियों ने एकान्त में अपना सम्पूर्ण जीवन बिता दिया। मैं भी वहाँ चलकर पक्षियों की

भाँति अपने सम्पूर्ण जीवन को बिता दूँ। जहाँ अनायास बिना प्रयत्न के भगवती भागीरथी का अमृतोपम पय पीने को मिल जाय, जहाँ के वन्य वृक्ष क्षुधा निवृत्ति के निमित्त अपने आप फल दे दें, जहाँ बिना बनाये रहने को गिरि-कन्दरायें प्राप्त हो जायें, जहाँ के वृक्ष पहिनने को वल्कल दे दें, उस हिमालय पर चलकर क्यों न रहूँ ? बार बार परम हंस शुकदेव की यह युक्ति याद आती—

> चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षाम् ।
> नेवाङ्घ्रिपाः परिभृतो सरितोऽप्यशुष्यन ॥
> रुद्धा गुहा किमजितोऽवति नोपपन्नान् ।
> कस्मात् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान् ॥

क्या मार्ग में पहिनने को फटी पुरानी चीरें नहीं हैं ? क्या परोपकारी वृक्षों ने फलों की भिक्षा देना छोड दिया है ? क्या रहने के लिये पहाड की गुफायें अवरुद्ध हो गयी हैं ? क्या शरण में आये भक्तों का प्रतिपालन करना अजित प्रभु ने छोड़ दिया है ? यदि नहीं, तो धन मद से दुर्मदान्ध हुए इन कठोर हृदय वाले धनिकों के द्वार पर जाकर तुम दीनता क्यों दिखाते हो ?

तब तक देहरादून हरिद्वार से ऊपर पहाडों पर मैं कभी गया नहीं था। मैंने उत्तराखड के पर्वतों की एक कल्पना कर रखी थी। वहाँ का एक कल्पित चित्र बना रखा था। पहाडों के बीचों से कलकलनिनादिनी भगवती भागीरथी बह रही होंगी। किनारे-किनारे घोर अरण्य होंगे ? उनमें भाँति भाँति के फल लदे रहते होंगे, पहाडों में स्थान-स्थान पर कन्दरायें गिरि गुफायें बनी होंगी, उनमें अनेकों योगी, यति, संन्यासी, त्यागी, विरागी, सिद्ध *पुरुष निवास करते होंगे। वे वृक्षों के नीचे पड़े हुए वृक्षों के फलों*

से अपना जीवन निर्वाह करते होंगे, भोजपत्र के वल्कलों को पहिनते होंगे। मैं भी वहाँ जाकर किसी एकान्त गुफा में बैठा रहूँगा। भूख लगने पर कन्दमूल फल खाकर उन्हीं से बिभुक्षा का शान्त कर लिया करूँगा। न किसी से बोलूँगा, न किसी की ओर देखूँगा। शान्त, गम्भीर भाव से इसी प्रकार सम्पूर्ण जीवन को बिता दूँगा। न ऊधो का लेना न माधो का देना। यहाँ सफेद कागदों को कारे करते रहने में क्या रखा है। यही सब सोचकर, मैं साहित्यिक जीवन को जलाञ्जलि देकर, जीवन भर कागद पर लेखनी से न लिखने की प्रतिज्ञा करके, एक कृष्णपट्टिका (स्लेट) लेकर वाराणसी से अपने दो साथियों इन्द्रजी और गोविन्दजी को लेकर पैदल ही पैदल गंगा किनारे-किनारे हिमालय निवास के लिये निकल पड़ा।

मनुष्य को जब तक प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता, तब तक वह बड़ी-बड़ी कल्पना करता रहता है, कल्पना लोक में मनमोदक खाता हुआ प्रमुदित होता रहता है। जब जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव होते हैं, तब उसे अपनी भूल मालूम होती है। पुरुषों की बुद्धि विकसित होने के दो ही कारण हैं, एक तो अवस्था के बढ़ने से, दूसरे सत्संगति, देशाटन और लोक व्यवहार देखने से। कल्पना लोक में मैंने जो हिमालय के अरण्यों की कल्पना कर रखी थी, वह मेरी कोरी कल्पना ही सिद्ध हुई। हिमालय में आकर मैंने देखा यहाँ न तो अब स्वतन्त्र वन हैं और न प्राकृतिक कन्द, मूल फल ही हैं। गिरि-गुफाओं का तो कहीं नाम भी नहीं। वन-विभाग ने चप्पा-चप्पा भूमि पर अपना अधिकार कर लिया है। न तो कोई यहाँ से लकड़ी काट सकता है न फल फूल तोड़ सकता है। यहाँ तक कि कोई वन में अग्नि नहीं जला सकता। झोंपड़ा नहीं रख सकता। रहने की बात तो पृथक्

है, कहीं कोई रह जाय, तो उसे कारावास का द्वार देखना पड़े। जीवन भर की तो बात ही क्या एक दिन भी वहाँ कोई जगली कन्द, मूल फलों पर नहीं रह सकता। पहाड के एक एक छोटे बडे पत्थर पर लोगों का अधिकार हो गया है। गोमुख तक की कुटियों पर उच्चन्यायालय में अभियोग चल रहे हैं। एक पत्थर के लिये जोशीमठ के एक पुरुष प्रयाग उच्चन्यायालय मे लड रहे थे। रही वीतराग त्यागी, विरागी, योगी महात्माओं की बात, सो वह भागवत माहात्म्य के श्लोक की एक एक बात चरितार्थ कर रही है। अब न योगी हैं, न सिद्ध, न ज्ञानी तथा सत्कर्म करने वाले कर्मकाडी ही हैं। इन सबको कलिकाल के दावानल ने भस्मसात् कर दिया है। जाने कैसे प्राचीन मुनि वल्कलों को पहिन कर निर्वाह करते रहे होंगे ? हमने तो भोज-पत्रों के अनेकों वृक्षों को खोज डाला। एक भी पहिनने योग्य वस्त्र नहीं मिला। जब तक ये कर की बनी मोटर बस नहीं चली थी, तब तक पहाडी लोग सीदे सादे सरल सत्यवादी थे। जब से ये पहाडों मे पक्की सडकें बन गयीं, मोटरें बसें चलने लगीं, तब से पहाड़ी भी हम लोगों की भाँति चतुर चालाक तथा चार सौ बीसी बन गये। अब पहाडी गाँवों में और देश के नगरों मे तथा उनके निवासियो मे कोई भी अन्तर नहीं रह गया। पहाडों मे भी कलिकाल का प्रभाव व्याप्त हो गया। अब तो पहाड मे रहो, देश में रहो सब एक ही बात है। "जैसे बलमा घर रहे वैसे रहे विदेश।"

मैं पहिले अपने को ही अपना कर्ता, धर्ता, भाग्यविधाता मानता था। तभी तो मैंने लेखनी से कागद पर न लिखने की प्रतिज्ञा कर ली थी। तब तक जानता तो था किन्तु इसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं था, कि भगवान् वहीं से सबको नियत काम कराने

को भेजता है। जिससे वह जो काम कराना चाहता है, उसे वह काम अवश होकर करना ही पड़ता है। अहंकार के वशीभूत होकर वह भले ही कहे कि मैं इस काम को न करूँगा। भगवान् ने जिस काम के लिये जिसकी जैसी प्रकृति बना दी है, उसे वह काम करना ही पड़ेगा, उसमें ननु-नच का तो प्रश्न ही नहीं। तभी तो कागद पर चिट्ठी भी न लिखने वाला मैं आज कितने सफेद कागदों को कारे कर चुका हूँ, इसका कोई लेखा-जोखा ही नहीं। हाँ तो मैं काशीजी से विरक्त वेष बनाकर अपने दो साथियों के साथ निकल ही तो पड़ा। दो साथी संग में इसलिये ले लिये कि मुझे माँगने में बड़ी लज्जा लगती है। ये ही मधुकरी माँग लाया करेंगे। फिर ये दोनों अपने आत्मीय ही थे। मनुष्य के आनन्द की किसी वस्तु से व्याख्या नहीं की जा सकती। भोग की समस्त सामग्रियाँ समुपस्थित रहने पर भी कुछ लोग बड़े दुखी रहते हैं, कुछ लोगों को उसी स्थिति में आनन्द आता है, जब उन पर कुछ भी न रहे। कुछ लोग संग्रह करने में सुखी होते हैं, बहुतों को देने में ही आनन्द आता है, बहुत-से खस की टट्टियों में सुखद सामग्रियों सहित रहने पर भी दुखी देखे गये हैं। बहुत-से दिन भर झाड़-झकार काँटे-कंकणों में भूखे-प्यासे दिन भर घूमते रहे और आकर कहते हैं, आज बड़ा आनन्द आया। इसलिये आनन्द उसी में है जिसे मन आनन्द मान ले।

चिरकाल की हार्दिक अभिलाषा थी, कि कुछ भी साथ में न रखकर भगवान के भरोसे गंगा किनारे-किनारे विरक्त वेष से भ्रमण करें। भगवान् ने वह इच्छा आज पूरी की। हृदय में अत्यन्त उल्लास, हिमालय पहुँचकर तप करने की चटपटी, क्षणिक वैराग्य की झोंक में मार्ग मालूम ही नहीं पड़ता था। लोटा डोर रखते नहीं थे। अतः प्यास बुझाने के निमित्त गंगा किनारा छोड़कर कहीं

दूर जाते नहीं थे। गंगा के तीर-तीर चलते हुए एक शिवमन्दिर में पहुँचे। रात्रि में वहीं विश्राम किया। गरमी के दिन थे, कोई कष्ट नहीं। मन में बडी प्रसन्नता। नया ही नया जीवन। पुरानी बात हो गयी। लगभग पचास वर्षों की बात है, सभी स्थानों के नाम भूल गये। प्रसिद्ध-प्रसिद्ध स्थान याद हैं। कई दिन चलकर चुनार पहुँचे।

चुनार—गंगा के दाहिने तट पर एक पहाडी पर यह अवस्थित है। प्राचीन स्थान हैं इसका पुराना नाम चरणाद्रि है। चरण के आकार की पहाडी है, तीर्थ स्थान है। वामनावतार में भगवान् ने भूमि नापते समय यहीं चरण रखा था। उसी पहाडी पर यहाँ के पुराने राजा का किला है। सुना है चुनार का राजा बहुत धनी था। मुसलमानों ने उसकी रानी से स्यात् दश मन हीरा जवाहिरात लिये थे। यहाँ श्रीवल्लभाचार्यजी आकर रहे थे। उनकी बैठक है। प्राचीन किला है। उसमे उस समय अपराधी बालकों का कारावास था। स्थान सुन्दर दर्शनीय है।

मीरजापुर—चुनार से चलकर मीरजापुर आये गगा के किनारे-किनारे जा रहे थे। गगाजी के सर्वथा तट ही पर वहाँ के जिलाधीश की कोठी थी, हम उसके नीचे से तट तट जाना चाहते थे। जिलाधीश अँगरेज था। उन दिनों जिलाधीश अपने जिले का सम्राट् ही माना जाता था। जिले भर मे जो चाहे सो करे। जिलाधीश के आदमियों ने हमें आगे जाने से रोक दिया। हम लडाई झगडा करने को उद्यत हुए, किन्तु उसने आगे जाने ही नहीं दिया। फिर दूसरे मार्ग से बँगले को बचाकर गगा का तट पकडा। समय की बात देखिये एक समय वह था, कि जिलाधीश के नोकर ने हमें बँगले की सीमा के नीचे से जाने तक नहीं दिया। कालान्तर में जब स्वराज्य हो गया और हमारे

बालकृष्णजी टंडन मीरजापुर के जिलाधीश होकर इसी
में रहने लगे, तब इसी बँगले में हमारा घर से भी बढ़कर स्व
गत सत्कार हुआ और प्रेमपूर्वक प्रसाद पाया विश्राम किया।

विन्ध्याचल—मीरजापुर से विन्ध्यवासिनी देवी के दर्श
को आये। कभी कोई श्रद्धालु मिल जाता, श्रद्धापूर्वक भोज
करा देता। कभी भिक्षा में पर्याप्त मिल जाता। कभी थोड़ा ह
मिलता, उसी को पाकर सन्तोप के साथ पानी पीकर चल देते
विन्ध्याचल में स्यात् भिक्षा का डौलडाल ठीक लगा नहीं। दर्श
करके आगे आये तो काली खोह के आगे आम का बड़ा भा
बगीचा है। उसमें पके-पके आम नीचे गिरे हुए थे। उन दिनों व
देवीजी का बाग बिकता नहीं था। जो चाहो सो आम खाओ
वहाँ हमने बीन-बीनकर भर पेट आम खाये। क्षुधा शान्त हुई
सुनते थे, विन्ध्याचल की पहाड़ियों पर बहुत से सिद्ध महात्म
रहकर तपस्या करते हैं। महात्माओं के दर्शनों के लिये हम बहु
लालायित रहते। गंगा किनारे से दूर भी किसी महात्मा का ना
सुनते तो उनके दर्शनों को अवश्य जाते। फिर लौटकर गंग
किनारे आ जाते। अष्टभुजी स्थान, काली गुफा आदि सभ
स्थानों पर गये। कई साधु महात्मा भी मिले। स्थान हमें बहु
अच्छा लगा। स्थान-स्थान पर स्वच्छ जल के स्रोत थे। जिन
से सदा जल निकलकर बहता रहता था। कालान्तर में जब फि
गये तो वे स्रोत सूख गये थे, उनमें अब पानी नहीं था। काल क
प्रभाव है। मेरे देखते-देखते उत्तराखण्ड तक के भी बड़े-बड़े बह
वाले स्रोत सूख गये हैं। कलिकाल का प्रभाव इन सब झरन
वृक्षों और ओषधियों पर भी पड़ता है। जैसे सिद्ध महात्माओं
को कथा सुनते थे, वैसे तो कोई मिले नहीं। एक कुटिया मे
बंगाली महात्मा मिले। बड़े सीधे सरल तपस्वी। हमारे स्या

वैराग्य को देखकर वे अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उन्होंने एक पहाडी हिरन की मोटी मृगशाला हमे दी। जिसे साथ रखते, उसी पर सोया करते थे।

लाक्षागृह—वहॉ से चलकर किनारे-किनारे लाक्षागृह आये। यह वही स्थान है, जहॉ दुर्योधन ने पॉचो पाडवों को जलाने के लिये लाख का घर बनवाकर उसमे उन्हें रहने को भेजा था और अपने विश्वासी नौकर से कह दिया था। "समय पाकर उसमें आग देकर पांडवो को भस्म कर देना।" विदुरजी ने पांडवों को सब रहस्य बता दिया और गुप्त रूप से पाडवों की रक्षा के लिये एक नौका गगा किनारे भेज दी। भीमसेन उस घर मे आग लगाकर विदुरजी की बनवायी गुप्त गुफा से निकल कर नौका पर चढकर माता सहित उस पार हो गये और बारह वर्षों तक ब्राह्मण वेष बनाकर, घर-घर से भिक्षा मॉंगकर उसी पर निर्वाह करते हुए घूमते रहे। जब उनका विवाह द्रौपदी के साथ हो गया, तो वे प्रकट हुए और अपना आधा राज्य लेकर इन्द्रप्रस्थ में अपनी राजधानी बनाकर रहने लगे।

यहॉ हमारे एक जेल के साथी प० वैजनाथजी मिल गये। उन्होंने प्रेम से भोजन कराया, लाक्षागृह के सब स्थान दिखाये। देख दाखकर वहाँ से चल दिये। लाक्षागृह मे सोमती अमावास्या को बडा मेला लगता है, दूर-दूर से यात्री स्नान करने आते हैं।

पागलानन्द स्वामी की कुटी—हमारा कोई नियम नहीं था कि हम एक ही तट पर चलें। कभी इस पार आ जाते, कभी उस पार चले जाते। जब हमने सुना उस पार स्वामी पागलानन्द जी बड़े प्रसिद्ध महात्मा रहते हैं, तो उनके दर्शनों को हम उस पार चले गये। सिरसा के पास पकरी सिवार गॉव है। उन्हीं के पास स्वामी पागलानन्द की कुटी है। ये स्वामीजी बड़े ही विरक्त

तथा त्यागी थे। इनका जन्म प्रयाग के दारागंज मोहल्ला में किन्हीं पन्डा के यहाँ हुआ। सब कुछ छोड़-छाड़कर संन्यासी हो गये। यह स्थान इन्हें अत्यन्त प्रिय लगा। वहीं एक कुटिया बनवाकर रहने लगे। आस-पास पंचवटी के पेड़ लगा रखे थे, जिनकी शाखायें झुककर झूमकर पृथ्वी को चूमती थीं। स्वामी ने सबके सुन्दर थाले बनवा रखे थे। उन्हें लिपवा पुतवा कर स्वच्छ रखते। किसी से कहकर एक पक्का घाट भी बनवा लिया था। कुटिया एक ही थी, जिसमें वे कोई भी वस्तु नहीं रखते, न रात्रि में किसी को रहने देते। आस-पास के लोग पारी-पारी से उनकी भिक्षा पहुँचा जाते थे। एक बार भिक्षा करके परम विरक्ति के साथ वे वहाँ निवास करते। वृद्ध हो गये थे, फिर भी उनका गौर वर्ण का कुछ स्थूल शरीर बड़ा भव्य लगता था। हमारा उन्होंने बहुत स्वागत सत्कार किया। सायंकाल पहुँचे थे। कुटिया में उनके पास कुछ था ही नहीं। दूसरे दिन गाँव वालों को बुलाकर हमारी भिक्षा करायी। जैसे पिता अपने पुत्रों से मिलता है वैसे वे बड़े ही प्रेम से हम से मिले। अपनी सब बातें सुनाते रहे। ऐसे विरक्त महात्मा को भी कुछ ईर्ष्यालु लोगों ने कलंकित किया। झूठ सत्य की तो भगवान् जाने वैसे स्वामीजी इन सब लांछनों को मिथ्या बताते थे। समय की बात तो देखिये, कालान्तर में झूसी से भागकर मैं डेढ़ दो महीने यहीं पागलानन्द स्वामी की कुटिया में आकर रहा।

सीतामढ़ी—पागलानन्द स्वामी की कुटी से हम फिर उस पार चले गये। वहाँ गंगाजी ने बहुत चक्कर लगाये हैं। यदि गंगा किनारे-किनारे चलो तो १०–१५ मील चलकर सामने का गाँव मिलेगा। सीधे चले जाओ तो दो तीन मील ही पड़ेगा। हम सीधे गये और सीतामढ़ी में पहुँचे। कहते हैं प्राचीन

वाल्मीकजी का स्थान यहीं था। लक्ष्मणजी यहीं श्रीसीताजी को छोड़ गये थे। हम गये थे तब वहाँ एक बड़ा भारी वट का वृक्ष था। एक साधु रहते थे। टोंस (तमसा) का संगम भी यहाँ समीप में ही है। साधुजी ने एक स्थान बताया, सीताजी इसी स्थान में भूमि में समा गयीं थी। लवकुश का जन्म यहीं हुआ था। देश में कई स्थानों में वाल्मीकजी के स्थान बताये जाते हैं। बिठूर में, चित्रकूट के पास और सीतामढी में तीन तो हमने ही देखे हैं। संभव है वाल्मीकजी यहाँ कुछ दिन रहे हों, किन्तु सीताजी का परित्याग और लवकुश का जन्म तो ब्रह्मावर्त ( बिठूर ) में ही बताया जाता है।

दुर्वासा आश्रम—"गंगा किनारे कँकरा कुटवा के समीप दुर्वासा ऋषि का आश्रम है। श्रावण के महीने भर यहाँ बड़ा मेला लगता है। दुर्वासा ऋषि की बड़ी ही भव्य प्रतिमा है। पहिले यहाँ मन्दिर में एक दंडीस्वामी मौनी महात्मा रहते थे। अब तो सभी स्थानों में साधु महात्माओं का अभाव-सा हो गया। पहिले लोग धर्म के नाम पर सर्वस्व त्यागकर जीवन भर विरक्त भाव से रहने वाले बहुत महात्मा मिलते थे। अब तो कोई सम्पन्न उच्च परिवार के कुलीन पुरुष साधु होते ही नहीं। अब जो साधु वेष बनाते भी हैं, वे प्रायः ऐसे ही लोग होते हैं, जिन्हें भोजनों का अभाव होता है, वे पेट भरने के लिये ही वेष बनाते हैं। कुलीन वंश के कोई साधु होते भी हैं, तो किसी संस्था को चलाने के लोभ से अथवा मठ महन्तों के लोभ से होते हैं। कुछ व्यवहार पटु प्रवचन करके चेला चेली बनाकर व्यवसाय के लिये वेष बना लेते हैं। ज्ञानपूर्वक वैराग्य धारण करने वाले कहीं एक आध छिपे होंगे, किन्तु प्रकट में अब दिखायी नहीं देते।

दुर्वासा से चलकर गंगा किनारे किनारे आये। १०–५ मील

से ही किले के खम्भे दिखायी देने लगे। उन्हीं के देखते-देखते छतनगा और फिर झूसी में पहुँच गये। बस, अपने पूर्वजन्म के अड्डे पर पहुँच गये। झूसी से आगे की कहानी अगले संस्मरण में देखी जायगी।

छप्पय

*काशी तैं चलि दये गंग तट ही तट धाये।*
*भिक्षा माँगत खात फेरि चरणाद्री आये॥*
*आये मिरजापुर, विन्ध्यवासिनि दरसन हित।*
*कीये दरसन फेरि महाकाली दरसन चित॥*
*अष्टभुजा में दरस करि, लाक्षागृह दरसन किये।*
*पकरी सीतामढ़ी पुनि, दुरबासा दरसन दिये॥*

कार्तिक कृष्ण ८। २०२९
संकीर्तन भवन, प्रतिष्ठानपुर
प्रयाग

प्रभुदत्त

# श्वेताश्वतरोपनिषद् (१)

## [ २६६ ]

हरिः ॐ ब्रह्मविदो वदन्ति—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्मजाता जीवाम केन क्वच सम्प्रतिष्ठाः । अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वार्तामहे ब्रह्म विदो व्यवस्थाम् ॥ *

(श्वेता० उ० १ अ० १ मन्त्र )

छप्पय

*मिलि जुलि कछु महाज्ञ कहें जग कारन का है ?*
*काल, स्वभाव, सँयाग, नियति, भूतहु सहसा है ॥*
*ये जड़ कारन नहीं, जीव परवश कहलायो ।*
*ध्यान करयो इक ब्रह्म जगत कारन बतलायो ॥*
*षष्ट अष्टकनि चक्र तैं, तीनि मार्ग द्वै निमित कह ।*
*चक्र नाभि अज्ञान है, तामें घूमत जगत यह ॥*

शालग्राम की बटिया चाहे छोटी-से छोटी हो अथवा बड़ी से-बड़ी हो, सबकी महिमा समान है । उसमे छुटाई बड़ाई का भेद-

---

*हे वेदज्ञ महर्षियो ! इस जगत् का मुख्य कारण ब्रह्म कौन है ? किससे उत्पन्न हुए हैं ? किसके द्वारा जीवित हैं ? हम सबकी सप्रतिष्ठा क्या है ? किसके द्वारा अधिष्ठित होकर सुख दुख व्यवस्था के अनुसार वत रहे हैं ? इस प्रकार वेदज्ञ ऋषि परस्पर मे दूसरे ऋषियो से चर्चा कर रहे हैं ।

भाव नहीं। कैसी भी शालग्राम वटिया का पूजन करो, वह एकमात्र परब्रह्म परमात्मा का ही पूजन माना जायगा। तथापि अवतार भेद से शालग्राम शिलाओं के गुणों में भी भेद-सा हो जाता है। नृसिंह-शालग्राम शिला उग्र है, सीताराम-शालग्राम शिला सौम्य है। फिर भी पूजक को इच्छानुसार फल देने में सभी शालग्राम शिलायें समर्थ हैं। इसी प्रकार वेदों की उपनिषदें छोटी बड़ी अनेकों हैं। बहुत-सी उपनिषदें काल के प्रभाव से अप्रकट हो गयी हैं। बहुत-सी प्रकाशित नहीं हुईं। वर्तमान समय में १२८ उपनिषदें तो प्रकाशित हैं। लगभग ७० अप्रकाशित उपनिषदें हैं। सब ही महान् हैं। सभी में ज्ञान-भंडार है। सभी अपने-अपने विषय की उत्कृष्ट हैं। तथापि आचार्यों ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, एतरेय, तैत्तरेय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक इन दशों पर ही विशेषतया भाष्य, टीका-टिप्पणियाँ आदि की हैं। इन दशों को प्रधानता दी है। कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषद्, श्वेताश्वतर उपनिषद् ब्रह्मज्ञान की परमोत्कृष्ट उपनिषद् है। इसके एक-एक मन्त्र में गूढ़-ज्ञान सन्निहित है। अतः इसकी संक्षिप्त व्याख्या करके आगे अन्य उपनिषदों का अत्यन्त ही संक्षेप में केवल परिचय ही मात्र दिया जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार जैसा कुछ शुद्ध-अशुद्ध बन सका दशों उपनिषदों की व्याख्या आपके सामने की। यथार्थ अर्थ को तो एकमात्र परब्रह्म तथा ब्रह्मीभूत महर्षिगण ही जानते हैं। अब आगे श्वेताश्वतरोपनिषद् का संक्षिप्त विवरण बताकर शेष उपनिषदों का अत्यन्त ही संक्षेप से परिचय आप सबको कराया जायगा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! आप उपनिषद्-अर्थ कहते-

कहते घबरा गये क्या ? जिससे अब संक्षेप और अत्यन्त संक्षेप सार सिद्धान्त पर आ गये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! मैं घबराया नहीं। भगवन् ! वह परम अभागा होगा जो स्वाध्याय प्रवचन से घबरा जाय। स्वाध्याय और प्रवचन यही तो जीवन का सार है। यही यज्ञ है, यही तप है, यही सत्य तथा परमार्थ साधन है। किन्तु प्रभो ! काल का भी तो विचार करना पड़ता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! काल का क्या विचार करना ? काल तो निरवधि है, नित्य है।"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! आपका कथन यथार्थ है। काल तो भगवान् का रूप ही है, तथापि प्रभो ! इस मर्त्यलोक के प्राणी अल्पायु होते हैं, तिस पर कलिकाल में तो आयु अत्यन्त ही न्यून होती है। एक ही ज्ञान है उसे ऋषियों ने विविध भाँति से कहा है। बटलोई में पकने वाले चावलों में से कुछ ही चावल निकाल कर देखे जाते हैं कि पके या नहीं। यदि करछी में आने वाले दाने कच्चे हैं, तो अभी सभी को कच्चा ही माना जाता है, यदि वे करछी के दस पाँच दाने पके हुए सिद्ध हुए तो पूरी बटलोई के चावलों को पका हुआ मान लिया जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मन् ! दस उपनिषदों में जो ज्ञान है, वही प्रकारान्तर से सभी में है। अतः अब मुझे संक्षेप से ही परिचय देने की आप आज्ञा प्रदान करें। यों यदि भगवान् ने कृपा की, तो फिर मैं आपकी अन्य प्रकार से सेवा करूँगा।"

शौनकजी ने कहा—"आपकी जैसी इच्छा हो वैसा ही करें, किन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद् जो ज्ञान विज्ञान का भंडार है, उसे अत्यन्त संक्षेप में न कहें। उसके छैः अध्यायों को तो हमें सुना ही दें।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! जैसी आप की आज्ञा। किन्तु अब विस्तार करने का समय नहीं रहा। आप तो यहाँ जनलोक में विराजमान हैं। जहाँ ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, दम्भ, नास्तिकता आदि दुर्गुणों का नाम तक नहीं। ब्रह्मन्! आप पृथ्वी पर चल कर देखें वहाँ कलियुग का कैसा तांडव नृत्य हो रहा है, अधर्म का कैसा बोल बाला है, नास्तिकता का कैसा साम्राज्य है। समाज, वाद के नाम पर कितने अत्याचार, पापाचार, दुराचार तथा घृणित व्यापार हो रहे हैं। उस नगाड़खाने में मेरी इस तूती के स्वर को कौन सुनेगा। पृथ्वी के कलियुगी जीवों को तो वेद उपनिषद की चर्चा भी नहीं सुहाती। वे तो छाया-चित्रों के पीछे, अश्लील, चरित्रहीन, आचार-विचारहीन उपन्यासों के पीछे पागल बने हुए हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! मरने दो इन पापियों को। सभी अपने-अपने कर्मों का फल भोग रहे हैं। पूर्वजन्मों के पापों के संस्कारों के कारण उनकी इन शुभ कर्मों में प्रवृत्ति ही नहीं। परन्तु भगवन्! इनमें से भी कोई विरले पुण्य पुञ्ज सुकृति साधक निकल ही आते हैं। यदि एक भी साधक इन प्रवचनों से प्रभु की ओर प्रवृत्त हो गया तो आपका सब श्रम सफल हो जायगा। किसी मुमुक्षु जीव को भगवान् के चरणारविन्दों में लगा देना, उसे प्रभु के पादपद्मों में भेंटकर देना, इससे बढ़कर प्रभु की प्रसन्नता का दूसरा कोई कार्य नहीं। इससे बढ़कर प्रभु की कोई बहुमूल्य भेंट नहीं। सूतजी! संसार में परमार्थ के साधक बहुत ही न्यून होते हैं। अधिकांश तो विषयों के कीड़े ही होते हैं और विशेषकर कलिकाल में। उन नरक के पथिकों की बात जाने दें, आप तो श्वेताश्वतर उपनिषद् का सार सिद्धान्त सुना दें।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है भगवन्! सुनिये, श्वेता-

श्वतर नाम के ऋषि हैं, उन्हीं के नाम से यह उपनिषद् है। इसका आदि और अन्त का पाठ सहनावतु-आदि मन्त्र है। इसकी प्रस्तावना यों आरम्भ होती है।

प्राचीनकाल में परमार्थ को ही प्रधानता देने वाले ऋषि मुनि जब एकत्रित होते थे, तब परमार्थ सम्बन्धी प्रश्नों पर ही वाद-विवाद किया करते थे। इसे ज्ञान सत्र कहते थे। उसमें प्रायः सभी परमार्थ चिंतक होते थे। पहिले कुछ मिलकर प्रश्न करते थे, दूसरे ऋषि उसका उत्तर देते थे। ऐसा ही एक ज्ञान-सत्र हुआ। बहुत-से ब्रह्मवेत्ता तथा परमार्थ के जिज्ञासु साधक एक स्थान में एकत्रित हुए। उनमें से कुछ ने ये पाँच प्रश्न उठाये—

१—यह जो हमें जड़ चेतनात्मक जगत दीख रहा है इसका मुख्य कारण क्या है ?

२—हम सब किससे उत्पन्न हुए हैं ?

३—किस शक्ति द्वारा हम जीवन धारण किये हुए हैं ?

४—हमारी प्रतिष्ठा किस मे है ?

५—हम सब किसके अधीन होकर सुख दुःखों की व्यवस्था में वर्त्त रहे हैं ?

ये पाँच प्रश्न उठे।

इनका उत्तर भिन्न भिन्न ऋषियों ने भिन-भिन्न प्रकार से दिया।

१—किसी ने कहा—"जगत् का मुख्य कारण काल है। काल के ही अधीन सब कुछ है। जिस समय जैसा काल होता है, वैसा कार्य स्वतः ही होने लगता है। जगत की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय में काल ही कारण है।"

२—किसी ने कहा—"सब कुछ स्वभाव के-प्रकृति के-अधीन है। सभी स्वभावानुसार हो रहा है।"

३—किसी ने कहा—"नियति-प्रारब्ध-के अधीन ही स कुछ होता है।"

४—किसी ने कहा—"सब कुछ सहसा-अकस्मात् यदृच्छ से हो जाता है। सहसा बीज में से अंकुर उग आता है। सहस गर्भ रह जाता है, बच्चा हो जाता है।"

५—किसी ने कहा—"पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से ही चराचर जगत् प्रपञ्च हो जाता है।"

६—किसी ने कहा—"यह जीवात्मा ही जगत् का मुख्य कारण है। जीवात्मा ही सृष्टि करने में समर्थ है।"

७—किसी ने कहा—"जगत का कोई एक ही कारण नहं है। काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पंचभूत, तथा जीवात्मा सभं के सद्‌योग से-सभी के संयोग से-यह जगत् होता है।"

इस पर कुछ ऋषियों ने कहा—"देखो भाई, काल, स्वभाव नियति, सहसा, पंचभूत ये इस जगत् के कारण कदापि नहीं हो सकते, क्योंकि ये सब-के-सब जड़ हैं। जड़ पदार्थ कोई भी कार्य स्वतः करने में समर्थ नहीं।"

इस पर दूसरों ने कहा—"अच्छा. जीव तो जड़ नहीं है, वह तो चैतन्य है। वही इस जगत् का मुख्य कारण होगा?"

इस पर दूसरों ने कहा—'जीव तो कर्मों के आधीन है। यह तो प्रारब्ध के अधीन होकर कर्म करता है। कर्ता तो स्वतन्त्र हुआ करता है। जो किसी के अधीन है उसे तो स्वामी की इच्छानुसार कार्य करना होगा। अतः जीव भी जगत् का कारण नहीं हो सकता।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! जब आपस में विचार विमर्श करने पर वे जब किसी निर्णय पर नहीं पहुँचे, तो सभी ने अपने-अपने चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके ध्यान किया,

ध्यान में उन्होंने देवात्म शक्ति का साक्षात्कार किया जो अपने सत्व, रज तथा तम तीनों गुणों से निगूढ़ा है–ढकी हुई है, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि वे परब्रह्म परमात्मा अकेले ही अपनी शक्ति के द्वारा ही काल पर, स्वभाव पर, नियति पर, यदृच्छा पर, पञ्चभूतों पर तथा जीवात्मा पर शासन करता है। अतः वे सबके शासन कर्ता, सबके नियामक, सबके स्वामी, शक्तिमान परब्रह्म परमात्मा ही इस सम्पूर्ण जगत् के तत्त्वतः कारण हो सकते हैं।

उन ब्रह्मर्षियों ने ध्यान योग के द्वारा इस सम्पूर्ण चराचर जगत् का वास्तविक कारण परमात्मा ही है यही निर्णय किया। उन्होंने ध्यान में ही इस संसार चक्र को देखा। जो निरन्तर घूमता रहता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! इस संसार को चक्र क्यों कहते हैं?

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! चक्र शब्द कृ धातु से बनता है। जो करने के अर्थ में व्यवहृत होती है। जिसके द्वारा कार्य किया जाय उसे चक्र कहते हैं (क्रियते अनेन इति=चक्रम्) चक्र रथ के पहिये को, कुम्हार के चाक को, भगवान् के अस्त्र सुदर्शन चक्र को कहते हैं। रथ के चक्रों से रथ चलता है, कुम्हार के चाक से नाना प्रकार के बर्तन बनते हैं। सुदर्शन चक्र से नाना असुरों का संहार होता है। ये चक्र घूमते रहते हैं और अपना कार्य करते रहते हैं। काल का भी चक्र है। कालचक्र घूमता घूमता प्राणियों का संहार करता रहता है। जैसे रथ का चक्र, कुम्हार का चक्र या चाक घूमते रहते हैं ऐसे ही यह संसार भी घूमता रहता है। रथ के चक्र या पहिये घूमते घूमते नीचे के ऊपर हो जाते हैं, ऊपर के नीचे चले जाते हैं, फिर नीचे के ऊपर हो जाते हैं।

ऐसे ही संसार चक्र में पड़ा जीव कभी स्वर्ग चला जाता है, फिर पृथ्वी पर आ जाता है, कभी रसातल पाताल में चला जाता है। यही संसार चक्र है। रथ के चक्र में एक तो घेरा होता है जिसे नेमि कहते हैं। कई गोल लकड़ियों द्वारा वह घेरा बनाया जाता है। बीच में एक नाभि होती है, उसमें आड़े टेढ़े अरे लगे रहते हैं। वे अरे नेमि में जड़े रहते हैं। नाभि में एक छिद्र रहता है, जिसमें धुरा पिरोया रहता है। वह धुरा घूमता नहीं है, उसमें पिरोया पहिया घूमता रहता है, उस पहिये के घूमने से ही रथ चलता रहता है। ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर निरन्तर आता जाता रहता है। यह संसार भी एक चक्र है, ऋषियों ने ध्यान में उस संसार रूप चक्र को घूमते हुए देखा। यह कैसा चक्र है, इसमें पहिये के बीच में रहने वाली एक तो नेमि है, उसके बिना पहिया काम नहीं कर सकता, गोल घेरे का नाम ही नेमि है। इस चक्र में अरे और नाभि सलग्न रहते हैं, जड़े रहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"संसार चक्र में 'नेमि' स्थानीय कौन है ?"

सूतजी ने कहा—"इस संसार चक्र की नेमि प्रकृति ही है। प्रकृति ही कार्यों में जीवों को लगाती है। प्रकृति द्वारा ही संसार-चक्र चलता रहता है। इस अव्यक्त जगत् का मूल आधार प्रकृति ही है। पहिये के ऊपर लोहे के घेरे हाल चढ़े रहते हैं, जो नेमि का आधार है। सत्व, रज और तम ये तीन गुण ही इस चक्र के घेरे हैं। पहिये का गोल घेरा कई गोल लकड़ियों को मिलाकर बनाया जाता है। इसमें कई लकड़ियाँ जुड़ी रहती हैं। इस संसार-चक्र की गोल नेमि भी मन, बुद्धि, अहङ्कार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन आठ के संयोग से बनी है। आठ सूक्ष्म तत्व आठ स्थूल तत्व इस प्रकार आठ लकड़ियों के

जैसे सोलह सिरे होते हैं। ऐसे ही स्थूल सूक्ष्म भेद से इस संसार चक्र के भी सोलह सिरे हैं। पहिये में बहुत से अरे होते हैं। इसी प्रकार इस संसार चक्र में पचास अरे हैं।

शौनकजी ने पूछा—"संसार-चक्र में पचास अरे कौन-कौन से हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! अन्तःकरण की पचास वृत्तियाँ ही संसार-चक्र के पचास अर हैं। अरों के सहायक भी छोटे-छोटे अरे होते हैं। ऐसे बीस इस संसार चक्र के सहायक अरे हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"बीस सहायक अरे कौन-से हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! पचास अरे, अन्तःकरण की पचास वृत्तियाँ यह तो सूक्ष्म अरे हुए। स्थूल रूप में जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है। शरीर रूप पिंड में पचास अंग उपाङ्ग हैं। अथवा तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र ये पंच पर्वा अविद्या। अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्त्व ये आठ सिद्धियाँ, अष्टाईस प्रकार की शक्ति और नौ प्रकार की तुष्टि। इस प्रकार पचास अरे बताये हैं।

बीस सहायक अरे, दश इन्द्रियाँ, शब्द, रूप, रस, गन्ध, और स्पर्श ये पाँच विषय तथा प्राण, अपान, उदान, व्यान तथा समान ये पाँच प्राण इन्हें बताया है। इस पहिये में आठ वस्तुएँ के ६–६ पटक हैं। जिन्हें पडष्टक कहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"पडष्टक क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! पहियों में छोटी-छोटी लकड़ी लगाकर कील काँटों में जड़कर जो आठ गोल लकड़ियों को

जोड़ा जाता है, उन आठों लकड़ियों के ६ जोड़ों को पडष्टव कहते हैं। वे आठ-आठ वस्तुओं से बनते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"इस संसार चक्र में पडष्टक कौन कौन हैं?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्!

पहिला अष्टक—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन बुद्धि, और अहङ्कार-यह प्रकृति अष्टक।

दूसरा अष्टक—त्वचा, चर्म, मांस, रक्त, मेदा, अस्थि, मज्ज और वीर्य-यह धातु अष्टक।

तीसरा अष्टक—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व-यह सिद्धि अष्टक।

चौथा अष्टक—धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान अवैराग्य और अनैश्वय-यह भावाष्टक।

पाँचवाँ अष्टक—ब्रह्मा, प्रजापति, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस पितर और पिशाच यह देवाष्टक।

छटा अष्टक—दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास मङ्गल, अकृपणता और उदारता यह गुणाष्टक।

ये ही ६ अष्टक बताये हैं।

चक्र में तीन मार्ग भेद होते हैं। इस संसार चक्र में देवयान मार्ग, पितृयान मार्ग और एक योनि से दूसरी योनि में यहाँ से यहाँ जाने का मार्ग ये तीन मार्ग भेद हैं। चक्र को घुमाने में ऊपर और नीचे दो घुमाने में निमित्त होते हैं। इस संसार चक्र में पुण्य और पाप ये ही दो निमित्त भेद हैं। चक्र में जो बीच में नाभि होती है। जिसमें सब अरे प्रथित रहते हैं, वह नाभि संसार चक्र में मोह है। मोह के ही कारण संसार चक्र स्थित है।"

सूतजी कह रहे हैं—"ब्रह्मज्ञानी ऋषियों ने ध्यान में ऐसे ससार चक्र का साक्षात्कार किया। उन ऋषियों ने अपने ध्यान में ही इस ससार को नदी के रूप में भी देखा। जैसे ससार रूप नदी को मुनियों ने ध्यान में देखा। उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

*नदी रूप यह जगत भेद जाके पचास हैं।*<br>
*ज्ञानेन्द्रिय जो पाँच स्रोत मिलि ही प्रवाह हैं॥*<br>
*जो तन्मात्रा पाँच नदी उद्गम बतलावें।*<br>
*पंच प्रान जो कहे तरङ्गहु सो कहलावें॥*<br>
*पचेन्द्रिय के ज्ञान जो, चाक्षुस आदिक पाँच हैं।*<br>
*सबका मन कारन कह्यो, मूल यही सब साँच हैं॥*

# संसार सरिता को पार करके प्रभुप्राप्ति का उपाय

## [ २७० ]

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्च-बुद्ध्यादिमूलाम् । पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥*

(श्वेता० अ० उ० १ अ० ५ श्लोक

छप्पय

*शब्द, रूप, रस, गंध, परस आवर्त कहावें ।*
*गर्भ, जन्म, गद, जरा, मृत्यु इनि वेग बतावें ॥*
*अँगुरी हैं जो बीस नाड़ि, मस्तक हु उदर है ।*
*पीठिहु नाभि, ललाट, नासिका, चिबुक, वस्ति है ॥*
*गुदा, कान, भौं, नेत्र जो, शंख, कन्ध, टँगना कहे ।*
*काँख, स्तन, लिङ्गहु वृषण, पसुरी सब चालिस भये ॥*

---

* ऋषिगण ध्यान करने के अनन्तर बतला रहे हैं—"कि ह पचास भेदों वाली नदी जान गये हैं । जो पाँच स्रोतों के जल से भरी ह पाँच स्थानों से उत्पन्न होकर उग्ररूपा और वक्रा-टेढ़ी-मेढ़ी है । पच प्रा हो जिसकी ऊर्मियाँ-तरंगे हैं, बुद्धि आदि पाँच ही जिसके मूल हैं । पाँ जिसमें आवर्त-भँवर-पड रहे हैं । पाँच प्रकार के जो दुःख हैं वे ही मा इस नदी के प्रवाह के वेग हैं । ऐसी यह पाँच पर्वों वाली नदी है ।"

ब्रह्माजी ने नाना योनियों की रचनायें कीं, किन्तु वे उन सबको रचकर भी सन्तुष्ट नहीं हुए। किन्तु जब उन्होंने मनुष्य योनि की रचना की तो उसे रचकर वे सन्तुष्ट हुए। अन्य सब योनियाँ भोग योनियाँ हैं। उन योनियों में कर्म करके मनुष्य स्वर्ग या मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। उन अन्य योनियों में जब तक जीव के भोग होते हैं, उन भोगों को भोगकर प्रारब्धानुसार अन्य योनियों में चले जाते हैं।

केवल एक मनुष्य योनि ही कर्म योनि है। इसमें पुरुष शुभ कर्म करके स्वर्ग जा सकता है, अशुभ कर्म करके नरक जा सकता है। मिश्रित कर्मों से बिना स्वर्ग नरक गये पुनः यहीं अन्य योनियों में जा सकता है और शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, इन सबसे परे होकर—ऊपर उठकर मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। प्रायः मोक्ष मानव शरीर से ही प्राप्त होती है।

यह मानव शरीर—विश्व ब्रह्माण्ड एक लघु प्रतिकृति है। मानचित्र है। विश्व ब्रह्माण्ड में जो-जो वस्तुएँ वृहद्रूप में हैं वे ही सबकी सब इस मानव शरीर में समुपस्थित हैं। इसीलिये यह उक्ति चरितार्थ होती है, कि 'जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में भी है।" तुम अपने शरीर का ज्ञान प्राप्त कर लो, विश्वब्रह्माण्ड का-तथा उसके कर्ता का ज्ञान हो जायगा। इसीलिये कहा गया है, अपने को देखो—आत्मानं पश्य।

ससार को ऋषियों ने सागर की उपमा दी है। संसारसिन्धु 'भववारिध' भवसागर, भवार्णव आदि-आदि संसार के विशेषण हैं। यहाँ ऋषियों ने संसार की—मानव देह की—उपमा नदी के साथ दी है। महाभारत में भगवान् व्यास ने कौरव पांडवों के युद्ध की उपमा भी नदी से दी है। नदी के दो तट होते हैं —एक

जल, तरंग, भँवर, वेग तथा उसमें रहने वाले मगर मच्छादि जीव होते हैं। महाभारत रूपा नदी के भीष्म और द्रोण तो दो तट हैं। जयद्रथ उसमें जल रूप है, गान्धारी के दुर्योधनादि शतपुत्र नीलकमल हैं। शल्य आदि शत्रु ग्राह के सदृश हैं। उसका वेग-प्रवाह-कृपाचार्य हैं। शल्य उसकी लहरें-वेला हैं। अश्वत्थामा, विकर्णादि बड़े-बड़े तिमिङ्गल हैं। दुर्योधन उसमें आवर्त भँवर है। ऐसी रण नदी को पांडव लोग पार कर गये। किसके सहारे से? उन पांडवों को श्रीकृष्ण रूपी, नदी को पार कराने वाला चतुर कैवर्त-मल्लाह-मिल गया था। जैसे पांडवों ने रण नदी केशव के सहारे पार कर ली थी, वैसे ही इस संसार सरिता को मानव उन्हीं केशव की कृपा से पार कर सकता है। इस संसार रूप नदी को-इस मानव देह को ऋषियों ने कैसे देखा? इसमें जल, मूलस्रोत, तरंग, भँवर तथा वेग आदि क्या-क्या है? इसका वर्णन ऋषियों ने जैसे किया है, उसे बताते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! ध्यान में उन ज्ञानी महर्षियों ने पहिले तो यह जाना कि सब पर शासन करने वाले-सम्पूर्ण संसार को नियन्त्रण में रखने वाले सर्वशक्तिवान् सर्वेश्वर हैं। फिर उन्होंने चक्र के रूप में संसार को देखा। फिर उसे ही उन्होंने नदी के रूप में देखा।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! सर्वत्र तो संसार को सागर की उपमा दी गयी है। यहाँ ऋषियों ने उसे नदी के रूप में क्यों देखा?"

सूतजी बोले—"ब्रह्मन्! समुद्र दुर्घेय है, दुस्तर है, अपार अगाध है। इसीलिये सर्वत्र संसार को सागर के सदृश बताया गया है। ऋषियों ने उसे सरिता बताकर बहुत ही उत्तम कार्य किया

है। वास्तव मे संसार सागर न होकर सरिता ही है। देखिये, सागर अगाध, अपार तथा अनन्त है। नदी की थाह है, उसका अन्त है। समुद्र का दूसरा तट दिखायी नहीं देता। नदी के दोनों तट दृष्टिगोचर होते हैं। समुद्र का जल खारा अपेय है, उसमें कोई तैरने का साहस भी करे और बीच मे प्यास लगे तो जल में रह-कर भी प्यासा मर जायगा। नदी का जल मधुर और पेय है, कितना भी पीलो। समुद्र का पार करना कठिन काम है, नदी को पार करना सरल है। बहुत से-ज्ञानमार्गी-लोग तो अपने बाहु-बल से ही नदी को पार कर जाते हैं। सर्वसाधारण लोग-भक्ति मार्ग के अनुयायी-नौका द्वारा बिना परिश्रम के-बैठे-बैठे ही-नदी को पार कर जाते हैं। कब पार कर जाते हैं ? जब उनकी श्रद्धा, भक्ति, विश्वास-किसी नीति-निपुण न्यायप्रिय नाविक के प्रति हो। वे नाविक कैवर्त क्लेशों को हरण करने वाले केशव ही हैं। इसीलिये ऋषियों ने इस ससार को-इस मानव देह को-नदी के रूप में देखा।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! नदी का तो उद्गम स्थान होता है, कई स्रोतों का जल मिलकर बहने लगता है। उसमें तरग, मूल, भँवर, वेग तथा विभाग होते हैं। इस ससार रूप नदी में ये कौन-कौन हैं। इनकी उपमा किन-किन वस्तुओं से दी गई है ?"

सूतजी ने कहा—"मुनियो ! नदी में कई स्रोतों से-छिद्रों से-जल निकलकर तब बहने लगता है। इस संसार में-या शरीर में-जो आँख, कान, नाक, जिह्वा और स्पर्शेन्द्रिय हैं, इनके छिद्र ही पाँच स्रोत हैं। इन्हीं में-से जल रूप संसार प्रवाह बहने लगता है। संसार की वस्तुओं का समस्त ज्ञान हमें पाँच ज्ञानेन्द्रियों से ही होता है।"

शौनकजी ने कहा—"नदी का एक उद्गम स्थान होता है, वहाँ से निकल कर वह टेढ़ी-मेढ़ी बहती है। नदी कभी सीधी नहीं बहती वह सदा टेढ़ी बहेगी इसीलिये नदी का और नारी का नाम वक्रा गति वाली कहा गया है। इनकी चाल सदा टेढ़ी ही होती है। इस संसार का-देह का-उद्गम स्थान क्या है और यह संसार नदी वक्रा कैसे है?"

सूतजी ने कहा—"अन्य नदियों का उद्गम स्थान तो एक ही होता है। किन्तु इस संसार रूपी नदी के-मानव देह के-उद्गम स्थान शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श-पाँच पञ्च सूक्ष्मभूत उद्गम स्थान हैं। और यह नदी वक्रा ही नहीं उग्रा भी है। इसका प्रवाह अत्यन्त ही उग्र है। इस संसार की चाल छल कपट के कारण टेढ़ी है। इसी भयंकर प्रवाह वाली टेढ़ी-मेढ़ी चलने वाली संसार नदी के चक्कर में जो फस जाता है उसे वार-वार डूबना उतरना-जन्मना मरना-पड़ता है।"

शौनकजी ने कहा—"नदी में तो बड़ी-बड़ी ऊर्मि-लहरें-तरंगें होती हैं। इस संसार रूप नदी में-मानव देह में-लहरें क्या हैं?"

सूतजी ने कहा—"शरीर में जो चेतना है, वह प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान इन पञ्च प्राणों के ही कारण है। अतः पंचप्राण ही इस नदी में तरग रूपी हैं।"

शौनकजी ने कहा—"नदी का एक मूल स्थान होता है, इस नदी का मूल स्थान क्या है?"

सूतजी ने कहा—"देखना, सुनना, सूँघना, रसास्वादन और शीत, उष्ण, मृदुल तथा कठोरता का ज्ञान ये जो पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच कर्म हैं। इन पाँचों ज्ञानों का अनुभव अकेले मन के ही द्वारा होता है। चक्षु रूप को देखती हैं किन्तु मन के द्वारा। मन

न हो, तो आँखें खुली होने पर भी हमें न दीखेगा। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों का मूल कारण मन है। वही मन इस संसार रूपी नदी का मूल स्थान है।"

शौनकजी ने पूछा—"नदी में जो आवर्त-भँवर पड़ते हैं, वे इस ससार रूप नदी में भँवर क्या हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पाँच विषय ही इस ससार रूप नदी के–मानव देह के–पाँच आवर्त-भँवर हैं।"

शौनकजी ने कहा—"नदी तो वेग के साथ बहती है, इस ससार रूप नदी में वेग क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"गर्भ में रहने का दुःख, जन्म होते समय का दुःख, वृद्धावस्था का दुःख, नाना प्रकार की आधि-व्याधियों का दुःख, और मृत्यु का दुःख ये पाँच प्रकार के दुःख ही इस नदी के प्रवाह में वेग रूप हैं। इसी के गुण प्रवाह में पडकर नाना योनियों मे आता जाता रहता है।"

शौनकजी ने पूछा—"नदी के कुछ पर्व–विभाग–होते हैं, जिनमें नदी बँटी रहती है। गोमुख से हरिद्वार तक, हरिद्वार से प्रयाग तक, प्रयाग से काशी तक, काशी से गगासागर तक जैसे गगाजी के ऐसे विभाग हैं–पर्व हैं–वैसे इस ससार नदी में–मानव देह में–विभाग क्या हैं ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पञ्चविध क्लेश ही इसमे पर्व हैं, विभाग हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"नदी के उद्गम से और जहाँ उसकी परि समाप्ति होती है। उस पूरे स्थान के कुछ भेद-विभेद होते हैं। ससार रूप नदी के कै भेद हैं ?"

सूतजी ने कहा—"अन्तःकरण की जो पचास वृत्तियाँ हैं ये

-ही इस संसार रूप नदी के भेद हैं। मनुष्य शरीर में ६ भेद ४४ उपभेद हैं। इस प्रकार पचास भेदों में यह शरीर रूप -बँटी हुई है ?"

शौनकजी ने कहा—"शरीर में ६ अंग और ४४ उपांग कौन-कौन-से हैं ?"

सूतजी ने कहा —"दो पैर, दो हाथ, एक सिर और गुदा से लेकर कंठ तक का मदरा ये छैः अंग तो प्रत्यक्ष दिखायी देते ही हैं। अब ४४ उपाङ्गों की गणना करें। १० हाथों की उँगलियाँ १० पैरों की उँगलियाँ। २० हुईं। (२१) समस्त नस नाड़ियों का जाल, (२२) मूर्द्धा शिर, (२३) उदर, (२४) पीठ, (२५) नाभि (२६) मस्तक, (२७) नासिका, (२८) चिबुक, (२९) वस्तिस्थान (३०) गुदा, (३१) कान, (३२) नेत्र, (३३) भौंहें, (३४) शंख (३५) कन्धे, (३६) तराड-टंकना, (३७) दोनों काँखें, (३८) स्तन (३९) उपस्थ और अंड कोप, (४०) दोनों पँसुलियाँ, (४१) कटि भाग ( स्फिच् ) (४२) जानु-घोंटू, (४३) दोनों बाहें, (४४) दोनों जंघायें। ये उपाङ्ग या प्रत्यंग है। छै अंग ४४ उपांगों वाली यह पचास भेदों वाली मनुष्य देह है। संसार में जितने भी भेद प्रतीत होते हैं सब अन्तःकरण की वृत्तियों के कारण तथा शरीरों की आकृतियों के ही कारण होते हैं। इस प्रकार ध्यान में ऋषियों ने पचास भेदों वाली इस संसार नदी को–मानव देह को देखा।

जैसे रथ का चक्र, कुम्हार का चक्र, बच्चों के खेलने का चक्र (चकई) सुदर्शन चक्र है। वैसे ही ब्रह्मचक्र है। इस ब्रह्मचक्र में यह हंस रूप जीवात्मा घूमता रहता है। यह ब्रह्मचक्र सबकी जीविका का हेतु है–कारण–है। जीव मात्र को वही ब्रह्म आजीविका प्रदान करता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! आजीविका तो मनुष्य कृषि,

गोरक्षा, वाणिज्य, प्रजापालन, सेवादि से स्वयं अर्जन करता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! जीव तो एक बिन्दु जल, एक कण पृथ्वी, एक चिनगारी अग्नि, एक झोंका वायु भी उत्पन्न करने में समर्थ नहीं। ये सब वस्तुएँ ब्रह्म द्वारा निर्मित हैं। एक बीज भूमि में बो देते हैं, उनके सैकड़ों बीज कौन बना देता है ? चींटी से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सबकी आजीविका परमात्मा ही चलाते हैं। जीव तो निमित्त मात्र है। वही सबका आश्रय है, सबकी संस्था है। उसी विश्व ब्रह्माण्ड के संसार चक्र में जीव कर्मानुसार घुमाया जाता है। चौरासी लाख योनियों में जन्मता मरता रहता है। अहङ्कार से विमूढ़ हुआ जीव अपने को ही कर्ता मानकर बन्धन में बँध जाता है और नाना योनियों में भटकता फिरता है। जब यह अपने निज स्वरूप को वास्तविकता के साथ जान जाता है और यह भी जान लेता है, कि मुझ जीवात्मा से पृथक् एक सबको प्रेरित करने वाला परमात्मा भी है, तब उसे वे सर्वान्तर्यामी परमात्मा अपना निजजन स्वीकृत कर लेते हैं। उसे अपना कहकर वरण कर लेते हैं। जब जीवात्मा उन सबके प्रेरक परमात्मा द्वारा स्वीकृत कर लिया जाता है, अपना लिया जाता है, अपना आत्मीय, भक्त, तदीय, प्रपन्न, शरणागत मान लिया जाता है तब उसका जन्म मरण का चक्कर छूट जाता है, वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है, वह संसारचक्र से सदा के लिये विमुक्त हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जीवात्मा तो शरीर में रहता है, वह परमात्मा कहाँ रहता है ? इसका पता ठिकाना हमें बता दीजिये, जिससे हम उससे जाकर मिल आवें।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! वह परब्रह्म यहीं हृदय में रहता है। वह अन्तःकरण में स्थित रहने से अन्तर्यामी कहलाता है। वेदों में

उसी परब्रह्म परमात्मा का ही तो वर्णन किया गया है। सत्य स्वरूप परब्रह्म को विद्वान् लोग बहुत प्रकार से वर्णन करते हैं। कोई उन्हें इन्द्र कहते हैं, कोई ब्रह्मा, परमात्मा व कहकर पुकारते हैं। समस्त जीवों का वही परब्रह्म आश्रय है, वह अक्षर अविनाशी है। उसका कभी नाश होता। वह अजर-अमर शाश्वत है, ये ऊपर नीचे और बीच तीनों लोक उसी में आश्रित हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! वह हृदय में दिखलायी नहीं देता?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! अज्ञानियों को वह ही देगा। जिनके नेत्रों में मोतियाविन्दु है, उन्हें वह कैसे दे सकता है। जो ब्रह्मविद हैं,जिन्होंने वेद के यथार्थ तत्त्व को जा लिया है ऐसे महापुरुष ही उसे हृदय में देख सकते हैं। उसे देख कर वे तदीय बन जाते हैं, उन्हीं के परायण हो जाते हैं, उन्हीं तल्लीन हो जाते हैं, फिर वे कभी भी माता की योनि में ना आवे, जन्म मृत्यु के चक्कर से सदा सर्वदा के लिये छू जाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! हृदय में अन्तर्यामी रूप स्थित उन परब्रह्म परमात्मा का स्वरूप क्या है और उन्हें जा कैसे? उन्हें जान लेने पर जीव की स्थिति कैसी हो जाती है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! ब्रह्म का स्वरूप तो अवर्णनी है। फिर भी शास्त्रों में जैसे उनके स्वरूप का वर्णन किया है औ उनकी प्राप्ति का जो फल है उसका वर्णन मैं आगे करूँगा आशा है आप इस गूढ़ तत्त्व सम्बन्धी ज्ञान को दत्तचित्त होक श्रवण करेंगे।"

छप्पय

कटि, पोंट्ह अरु बाँह, जाँघ सब चौवालिस हैं।
द्वै कर, द्वै पग, शिरहु, षडहु ये मुख्य अङ्ग हैं॥
देह रूप यह नदी पचासहु भेदनि वारी।
अन्तःकरननि वृत्ति पचासहिँ अथवा न्यारी॥
पिंड माहिँ जो वस्तु हैं, सो ब्रह्माण्ड लखात है।
ध्यान माहिँ ऋषि मुनि तिनहिँ, जानत वेद बतात है॥

# ब्रह्म का स्वरूप और ब्रह्मप्राप्ति का फ

[ २७१ ]

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च। अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥*

(श्वे० अ० उ० १ अ० ७ श्लो

छप्पय

*वर्णित वेदनि ब्रह्म प्रतिष्ठा सब जीवनिकी।*
*जिनिमें थित त्रयलोक हिये में इस्थिति जिनिकी॥*
*जानि ब्रह्मविद लीन मुक्त नित होवें जगतैं।*
*छर-अछर संयुक्त व्यक्त अव्यक्त विश्व ते॥*
*धारन पोषन ईश जग करें जीव भोगै विषय।*
*बँधे प्रकृति बन्धन तबहि, जानि होइ तत्पर अभय॥*

एक व्यक्ति राजा के-से वस्त्र आभूषण पहिन ले, राजा समान मुकुट धारण कर ले, सुवर्ण का सिंहासन बनवाकर उ

---

* यह वेद वर्णित-उद्गीत-परब्रह्म प्राणिमात्र की सुप्रतिष्ठा है तथा वह अक्षर-कभी नाश न होने वाला है। उसी में तीनों स्थित हैं ब्रह्मवेत्ता पुरुष हृदय के अन्तर में स्थित उस परब्रह्म परमात्मा को जा कर उन्हीं के तत्पर-परायण-अधीन होकर उस परब्रह्म में लीन हो जा हैं, वे सभी प्रकार की योनियों से सदा के लिये मुक्त हो जाते हैं।

पर आसीन हो जाय, इतना सब करने पर भी वह राजा नहीं हो सकता। वह नाटक का बनावटी ही राजा कहलावेगा राजा होने के लिये उसके यहाँ प्रधानमन्त्री, राजपरिषद्, सेना, कोष राजमहिषी और भृत्यवर्ग आवश्यक हैं। इन सबसे संयुक्त का ही नाम राजा है। राजपरिकर के बिना अकेले राजसी वस्त्र पहिनकर मुकुट लगाकर कोई राजा नहीं हो सकता।

जब राजा निकलता है, तो कुछ लोग तो कहते हैं, राजा जा रहा है। कुछ कहते हैं–राजा अपने परिकर सहित जा रहा है। दोनों का अभिप्राय एक ही है। जो कहते हैं–राजा जा रहा है, उसका तात्पर्य सेना, मन्त्री तथा रानी के निषेध में नहीं है। उसने इन सबको राजा के अन्तर्गत ही मान लिया है, क्योंकि राजा इन सबमें सर्वश्रेष्ठ है। जो कहते हैं, राजा अपने परिकर सहित जा रहा है, उसने राजा को पृथक् और मन्त्री, रानी, भृत्यवर्गादि की गणना परिकर में कर दी है। भाव दोनों का एक ही है। शब्दों के भेद से अज्ञों को भ्रम हो जाता है।

ऐसी ही प्रक्रिया वेद शास्त्रों की है। वेदों में कहीं तो एक, अद्वय ब्रह्म को ही अनादि अनन्त बताया है, कहीं ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन को अनादि बताया है। तो जहाँ केवल एक ही अद्वैत ब्रह्म है ऐसा कहा है, वहाँ जीव तथा प्रकृति के निषेध में तात्पर्य नहीं है। वहाँ तात्पर्य इतना ही है कि ईश्वर सर्वश्रेष्ठ है, जीव तथा प्रकृति उसके अधीन है। जहाँ यह कहा गया है ब्रह्म अद्वितीय है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है, उसके सदृश या उससे श्रेष्ठ कोई नहीं है, वहाँ यही समझना चाहिये कि ब्रह्म सबसे उत्तम, सबका स्वामी, सबका संचालक है, प्रकृति और जीव उसके अधीन हैं। प्रकृति और पुरुष का अस्तित्व ही नहीं यह अभिप्राय नहीं। इस विषय को भगवान् ने श्रीमद्भगवत्

गीता में बहुत ही स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। तेरहवें में जहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग बतलाया है, वहाँ कहा है—प्र और पुरुष इन दोनों को ही हे अर्जुन! तुम अनादि जानो जितने जो विकार हैं और सत्वादि जितने गुण हैं ये सब प्रकृति सम्भव हैं। ये सब प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं। पुरुष जीवात्मा का क्या कार्य है, और प्रकृति का क्या कार्य है बताते हुए भगवान् कहते हैं—"प्रकृति तो इस ... कारण को उत्पन्न करने में हेतु मानी गयी है और पुरुष दुःख सुख भोगने में कारण माना गया है। प्रकृति जड़ पुरुष-जीवात्मा-चैतन्य है। चैतन्य है तो इसे दुःख क्यों होत है? चैतन्य को तो दुःख नहीं होना चाहिये?" इस पर भगवा कहते हैं। दुखी होना जीव का स्वरूप नहीं, किन्तु जब व प्रकृति में स्थित होकर प्रकृति से उत्पन्न गुणों को भोगता है, दुखी सुखी हो जाता है। गुणों का संग ही इस जीवात्मा व सद्-असद् योनि में ले जाता है। प्राकृत शरीर में अहंता हो के कारण-शरीर संयोग से-जीव दुखी होता है।

शरीर के संयोग से-शरीर में रहने के कारण ही पुरुष अह कार के वशीभूत होकर दुखी होता है, तो परमात्मा भी तो शरी में-अन्तःकरण में-अन्तर्यामी रूप से रहता है। जब शरी संयोग से जीवात्मा दुखी होता है, तो परमात्मा को भी दुख होना चाहिये। इस पर भगवान् कहते हैं—परमपुरुष-परमात्मा इस देह में रहता हुआ भी प्रकृति जन्य गुणों से परे ही रहता है वे गुण परमात्मा को स्पर्श भी नहीं कर सकते। क्योंकि वह कर्मों का दृष्टामात्र है, केवल अनुमोदन करता है, वह कर्ता भर्ता, हर्ता, संहर्ता, भोक्ता होने पर भी महा ईश्वर है, आत्मासे-भाव से-परे होने से वह परमात्मा कहलाता है। बस, जीवात्मा के

गुणों सहित प्रकृति के तथा पुरुष-जीवात्मा-के तथा परमात्मा के स्वरूपों का यथार्थ ज्ञान भर हो जाय, तो फिर वह जन्म-मरण के चक्कर से सदा सदा के लिये विमुक्त हो जाता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष जैसे चाहे तैसे रहे। उसका पुनर्जन्म नहीं होता। वह संसारचक्र से विमुक्त हो जाता है।

इसी बात को पुनः पुरुषोत्तमयोग (पन्द्रहवें अध्याय में) और स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं—"इस लोक में एक क्षर और दूसरा अक्षर ये दो ही पुरुष हैं। जितने भूत हैं-प्राणी हैं-वे तो क्षर हैं और कूटस्थ-जीवात्मा-अक्षर है। इन क्षर और अक्षर-प्रकृति और जीव-से परे एक अन्य पुरुषोत्तम ईश्वर-भी है। जो तीनों लोकों में प्रवेश करके समस्त लोकों का भरण पोषण करता है। उसी को अव्यय तथा ईश्वर और पुरुषोत्तम कहते हैं। उसे पुरुष से-जीव से-उत्तम पुरुषोत्तम क्यों कहते हैं? इसलिये कहते हैं, कि वह क्षर-प्रकृति-से अतीत और अक्षर-पुरुष-से उत्तम है। इसीलिये उसे पुरुषोत्तम कहते हैं। इस प्रकार गीता के मत से प्रकृति, पुरुष जिन्हें क्षर और अक्षर कहा गया है दो तो ये और एक ईश्वर तीन वस्तु नित्य तथा अनादि हैं। जीव और प्रकृति ये ईश्वर के अधीन हैं, ईश्वर से अवर हैं। ईश्वर सबसे श्रेष्ठ-प्रवर-हैं। वे सबसे श्रेष्ठ, उत्तम, सबके अधिष्ठाता हैं, अतः वे परब्रह्म एक हैं, अद्वय हैं, अनुपमेय हैं यह कहना भी यथार्थ है। इसी को श्वेताश्वतर उपनिषद् में स्पष्ट किया गया है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! स्वरूप रहित उन परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए भगवती श्रुति कह रही है—"संसार में दो ही हैं एक क्षर दूसरा अक्षर। जितना प्रकृति निर्मित जड़ वर्ग है वह सब क्षर है। जड़ पदार्थों के नाश होने पर-अदर्शन

अथवा लोप हो जाने पर—भी जिस जीवात्मा का नाश नहीं हो
वह अक्षर है। इन दोनों अक्षर—क्षर—का जो संयुक्त रूप है
व्यक्त और अव्यक्त रूप में स्थित है वही यह संसार है,
है। इस सम्पूर्ण विश्व का—क्षर-अक्षर का—व्यक्त-अव्यक्त
स्वामी है, अधीश्वर है, प्रभु है, शासक है, प्रेरक है उसे
परमेश्वर और ईश कहते हैं। इन सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड
वही धारण करता है, वही सब परिपोषण करता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! प्रकृति तो जड़ है। जीव
तो परमात्मा की भाँति जड़ न होकर चैतन्य है।
संसार-चक्र में बँध क्यों जाता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! संग दोष के कारण चै
होने पर भी जीवात्मा प्रकृति के अधीन होकर बँध जाता
जगत् में शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श सम्बन्धी जो विषय
उन विषयों को जीव अपना भोग्य मानने लगता है। जो भ
होगा, उसे भोगजन्य कर्मों का फल भी भोगना ही पड़ेगा।
प्रकृति के भोगों में ममता करने से अपने को भोक्ता मानने
अहंकार करने से जीव संसार के बन्धन में बँध जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"जब जीव विषयों का भोक्ता बन
प्रकृति के अधीन होकर बँध ही जाता है, तो क्या सदा बँधा
रहता है, या कभी इस बन्धन से छूट भी जाता है?"

सूतजी ने कहा—"बन्धन वास्तविक बन्धन थोड़े ही है,
भ्रमवश उसे बन्धन मान लेता है। एक धोबी था वह अपने ग
को लेकर जंगल में गया। गधों को बाँधने की रस्सी एक ही थ
उसने एक गधे के पैर में तो रस्सी बाँध दी। शेष गधों के पैरों
झूठे ही हाथ लगा दिया। अब सब गधे अपने को बँधा सम
लगे। प्रातः जब उन्हें ज्ञान हो गया, कि अरे, हम बँधे नहीं

इतना ज्ञान होते ही वे बन्धन मुक्त हो गये। इसी प्रकार यह जीव तो नित्य मुक्त है। प्रकृति के सयोग से अज्ञान के कारण-भ्रम-वश अपने को बँधा हुआ मानने लगा है। जिस समय उसे यह ज्ञान हो जायगा कि मेरा विनाशशील जड पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं। मैं तो उन चैतन्य स्वरूप देवाधिदेव का एक चेतन्याश हूँ, वे परमेश्वर ही मेरे स्वामी हैं इस प्रकार उन देव को जानकर ससार बन्धन से मुक्त हो जाता है। सदा बँधा ही नहीं रहता। अज्ञान मे बन्धन है ज्ञान से ही मुक्ति है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! परमात्मा अनादि है या जीवात्मा?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! बार बार तो बता चुका हूँ जीव, ईश्वर और प्रकृति तीनों ही अनादि हैं। इन तीन मे दो चेतन्य हैं ईश्वर और जीव। एक प्रकृति जडा है।"

शौनकजी ने पूछा—"जब जीव भी चैतन्य है और ईश्वर, परमात्मा पुरुषोत्तम भी चैतन्य है तो इनमें फिर अन्तर क्या है?"

सूतजी ने कहा—"दोनों मे बहुत अन्तर है। एक ज्ञ है दूसरा अज्ञ है। एक सर्वज्ञ है, दूसरा अल्पज्ञ है। एक ईश है, दूसरा अनीश है। एक स्वामी है, दूसरा सेवक है। एक सर्वसमर्थ है, दूसरा असमर्थ है। इतना होने पर भी दोनों अज हैं, अजन्मा है।"

शौनकजी ने पूछा—"जब ईश्वर जीव दोनों अज अनादि हैं, तो जाव अनादिकाल से अज्ञ रहा होगा। जो अनादिकाल से अज्ञानी है वह बन्धन मुक्त कैसे हो सकता है?"

सूतजी ने कहा—"जीवात्मा के दो भेद हैं, एक

दूसरा ज्ञानी। वास्तव में जीव तो नित्य मुक्त ही है, प्रकृति के संसर्ग से वह अपने को बँधा हुआ-सा मानने लगता है। वास्तविक ज्ञान होने पर वह स्वरूपस्थ होकर अपने को प्रकृति से पृथक मान बैठता है।"

शौनकजी ने पूछा—"अच्छा, सूतजी! यह बताइये परमात्मा तो सबसे श्रेष्ठ सबसे बड़ा है हाँ। अब प्रकृति में और पुरुष अर्थात् जीवात्मा में और प्रकृति में इन दोनों में कौन बड़ा है?"

हँसकर सूतजी ने पूछा—"ब्रह्मन्! आप किसे बड़ा मानते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"हम तो प्रकृति को ही बड़ा मानते हैं, जो नित्य मुक्त जीवात्मा को भी बन्धन में फँसा लेती है।"

यह सुनकर सूतजी हँस पड़े और बोले—"ब्रह्मन्! किसे बड़ा छोटा कहें। जीवात्मा की भाँति प्रकृति भी अजा है अनादि है। यह जीवात्मा को भुगाने के लिये नाना प्रकार की सामग्रियों को सजा-सजाकर रखती है। जीव की यही अल्पज्ञता है कि उन सामग्रियों के चाकचिक्य में फँसकर प्रकृति के अधीन हो जाता है। जब उसके सखा, स्वामी, सुहृद् सर्वज्ञ परमात्मा उस पर कृपा करते हैं, उसे बुद्धि योग प्रदान करते हैं तो वह प्रकृति के मोह का परित्याग करके अपने सर्वज्ञ स्वामी के समीप आ जाता है, उनको प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार जीवात्मा, परमात्मा और तीसरी शक्ति अजा प्रकृति है। तीनों अनादि हैं इन तीनों में ईश्वर, इन दोनों से विलक्षण, उत्तम, श्रेष्ठ है। ये दोनों ही—प्रकृति और जीव—ईश्वर के अधीन हैं। उनके परिकर हैं। लीला के अनादि उपकरण हैं। वह परमात्मा अनादि है, अनन्त है, विश्वरूप है, सबको रचने वाला होने पर भी स्वयं सदा सर्वदा अकर्ता बना रहता है। जब जीव इन तीनों को ब्रह्मरूप में जान लेता है

अर्थात् जीवात्मा और प्रकृति ब्रह्म के ही उपकरण हैं, उन्हीं के अधीन हैं, तभी वह बन्धन मुक्त हो जाता है। तीनों के स्वरूप का ज्ञान होना ही मुक्ति है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रकृति का स्वरूप क्या है ?"

सूजी ने कहा—"सत्व, रज और तम तीनों गुणों वाली प्रकृति है, इसी से समस्त प्राकृतिक पदार्थ बनते हैं। वे सब के सब नाशवान् हैं विनाशशील हैं। इसीलिये प्रकृति को क्षर कहते हैं, इसे भी प्रधान कहते हैं। प्राकृतिक जितने भी पदार्थ हैं वे जीव के भोग्य हैं। उन सबका भोक्ता जीव है।"

शौनकजी ने कहा—"जीव का स्वरूप क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! जीव तो अमृत स्वरूप तथा चैतन्य है, इसीलिये उसको अक्षर कहते हैं। किन्तु प्रकृति के संसर्ग से वह अपने को भोगने वाला मानने लगता है। इसीलिये उसकी हर संज्ञा है अर्थात् प्राकृतिक विषयों को भोगने वाला। प्रकृति जड़ होने से अंधी है। पुरुष-जीवात्मा क्रियाशील न होने के कारण लूला है। इन दोनों को ही एक देवाधिदेव परमात्मा पुरुषोत्तम अपने शासन में रखता है।"

शौनकजी ने कहा—"जब जीव स्वभाव से ही अल्पज्ञ और प्रकृति के विषयों का भोक्ता है, तो वह संसार चक्र से मुक्त कैसे होगा ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! बार-बार तो बताया है, जीव स्वभाव से ऐसा नहीं उसे भ्रमवश कर्ता होने का अभिमान हो गया है। जहाँ उसके भ्रम की निवृत्ति हो गयी, जहाँ परमात्मा की कृपा से उसे भगवत्-स्वरूप का बोध हो गया। स्वयं मैं कर्ता नहीं हूँ सबके कर्ता, धर्ता हर्ता, संहारकर्ता परमात्मा ही हैं, जहाँ उसे ऐसा बोध हो गया, वहीं वह बन्धन मुक्त हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"परमात्मा के स्वरूप का बोध कैसे हो ?"

सूतजी ने कहा—"बोध तो तभी होगा जब वे ही चाहेंगे, वे ही जिसे अपना कहकर वरण कर लेंगे। वे ही जिसे बुद्धियोग प्रदान कर देंगे। इसलिये जीव को निरन्तर उन्हीं का ध्यान करना चाहिये। मन को विषयों में न लगाकर उन्हीं में उसे संयोजित करना चाहिये उन्हीं में निरन्तर उसे लगाये रहना चाहिये। इस प्रकार उनके निरन्तर ध्यान से, मन को उन्हीं में नियोजन करने से उन्हीं में तत्व भाव करने से-तन्मय हो जाने से-फिर जितनी भी विश्व की माया है-जितनी भी अविद्या है सभी की निवृत्ति हो जाती है। ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।"

शौनकजी ने पूछा—"ब्रह्म को जान लेने का फल क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! बार-बार तो बतलाया है। उन परब्रह्म परमात्मा के निरन्तर ध्यान से, उन देवाधिदेव को सम्यक् प्रकार जान लेने से समस्त पाशों का-सभी प्रकार के प्रकृतिजन्य बन्धनों का-विनाश हो जाता है। जीव सदा-सदा के लिये बन्धन मुक्त बन जाता है। समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"क्लेशों के नाश होने से क्या होता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! संसार में पाँच ही प्रकार के क्लेश हैं। (१) गर्भ में रहने का क्लेश, (२) जन्म होते समय का क्लेश, (३) नाना प्रकार की आधि-व्याधियों का-विभिन्न रोगों का-क्लेश, (४) वृद्धावस्था का क्लेश, और (५) मरणकाल का क्लेश। सभी संसारी जीव इन पाँच प्रकार के क्लेशों से क्लेशित हैं। क्लेशों का जहाँ नाश हो गया, वहाँ जन्म मृत्यु का-माता के गर्भ में आने का-अभाव हो गया। जन्म न लेगा, गर्भवास न करेगा, तो शरीर की भी प्राप्ति न होगी। इसलिये

जिस शरीर से ज्ञान प्राप्ति हुई है वह चरम शरीर–अन्तिम देह–माना जायगा। इस शरीर के नाश होने पर पृथ्वी के भोग ही नहीं स्वर्ग के भोगों में भी स्पृहा न रहेगी। वह सभी प्रकार के विश्व के ऐश्वर्य का त्याग करके केवल–सर्वथा विशुद्ध–बन जाता है। वह आप्तकाम–पूर्णकाम–हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"इस ब्रह्म को जानने के लिये किस स्थान में जाना चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! अन्यत्र कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। जो पिंड में है वही ब्रह्माण्ड में है। वह ब्रह्म तो अपने अन्तःकरण में ही बैठा हुआ है। अतः आत्मस्थित ब्रह्म को निरन्तर जानना चाहिये। संसार में जानने योग्य एकमात्र ब्रह्म ही है। ब्रह्म से बढ़कर वेदितव्य–जानने योग्य–और कुछ भी नहीं है। भोक्ता जो यह जीवात्मा है और भोग्य जो प्राकृत संसार के रूप रसादि विषय हैं इन सबके प्रेरक परब्रह्म परमात्मा ही हैं। इस प्रकार मानकर जो व्यवहार करता है तो मानों उसने जानने योग्य सब कुछ जान लिया। इस प्रकार वह ब्रह्म त्रिविध है। अर्थात् जीव प्रकृति से संश्लिष्ट ही ब्रह्म है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आप कहते हो, शरीर के भीतर ही हृदय की गुफा में जीवात्मा और परमात्मा बैठे रहते हैं। किन्तु वे दिखायी नहीं देते। उनका साक्षात्कार नहीं होता। वे किस साधन से ग्रहण किये जायँ ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! उपनिषदों में बारम्बार प्रणव जप पर बल दिया गया है। ब्रह्म साक्षात्कार का प्रणव जप ही सर्वश्रेष्ठ साधन बताया है। यहाँ पर भी प्रणव को ब्रह्म साक्षात्कार का जैसे साधन बताया है उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

अज्ञानी-सर्वज्ञ ईश-असमर्थ, दुउ अज।<br>
भोक्ता तो है जीव अभोक्ता ईश्वर कूँ भज॥<br>
तीसरि प्रकृति अनादि सबनि में ईश्वर उत्तम।<br>
आत्मा अखिल अनन्त अकर्ता है पुरुषोत्तम॥<br>
सम्यक तीननि जानिकें, पुरुष मोक्ष प्रापत करें।<br>
क्षर अक्षर पै एक प्रभु, पुरुषोत्तम शासन करें॥

# प्रणव जप द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार

## ( २७२ )

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः ।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥*

(श्वे० उ० १ म० १३ म०)

### छप्पय

*प्रभु को करिकैं ध्यान लगावै मन तिनि चरनन ।*
*है तन्मय तिनि भजै कटैं सब माया बन्धन ॥*
*करै ध्यान तिनि पाश कटैं सब क्लेश नसावैं ।*
*जन्म मृत्यु नसि जाय पूर्ण कामहु कहलावैं ॥*
*जो हिय थित परब्रह्म को, करै ध्यान नित नित हरष ।*
*उनतैं बढ़िके जगत में, श्रेय नहीं कोई पुरुष ॥*

ईख में यद्यपि मिश्री विद्यमान है, किन्तु कोई ईख के दण्डे को लेकर कहे कि दिखाओ इसमें मिश्री कहाँ है, तो ईख के दण्ड में

---

* जिस प्रकार अग्नि अपने आश्रय भूत काष्ठ में यद्यपि रहती है, तथापि उसमे उसकी प्रत्यक्ष मूर्ति दिखाई नहीं देती। उसमें उसकी सत्ता का–लिङ्ग का–नाश नही होता। यदि कोई प्रयत्न करे परिश्रम करके मथे तो वह अपनी योनि–ईंधन–मे फिर से प्रकट करके ग्रहण की जा सकती है। इसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों देह मे ही प्रणव के जप रूप साधन से ग्रहण किये जा सकते हैं।

प्रत्यक्ष मिश्री नहीं दिखायी जा सकती। जब तक कि ईख को पेरकर उसका रस निकालकर उससे राब, गुड़, शक्कर आदि क्रमशः मल रहित करते हुए न बनाये जायँ और अन्त में शक्कर को भी निर्मल करके उसकी मिश्री न बनायी जाय। ईख से मिश्री बनाना श्रमसाध्य कार्य है।

यद्यपि तिलों में ही तैल विद्यमान है, किन्तु कोई बोरी भर के तिल लाकर रख दे और कहे—कि इनमें तैल कहाँ हैं, तो उनमें तैल तब तक नहीं दिखाई देगा, जब तक उन्हें विधिवत् कोल्हू में न पेरा जाय।

यद्यपि दूध की बिन्दु-बिन्दु में घृत व्याप्त है, किन्तु कोई घड़ा भरके दूध ले आवे और कहे—इसमें घृत कहाँ है, उसे दिखाइये, तो तब तक घृत नहीं दिखाया जा सकता जब तक दूध को परिश्रम करके गरम करके जमाकर उसका दही बनाकर मथा न जाय, मथकर मक्खन निकाल कर उसको गरम करके छानकर उसका घृत न बना लिया जाय।

इसी प्रकार भगवान् तो सबके अन्तःकरण में अन्तर्यामी रूप से विद्यमान ही हैं, वे तब तक दिखायी नहीं देते जब तक जप, तप, संयम आदि साधन न किये जायँ, जब तक उनकी कृपा की प्रतीक्षा—मुसमीक्षा—न की जाय। अतः प्रणव के जाप द्वारा इसी मानव शरीर में ब्रह्मसाक्षात्कार किया जा सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस शरीर में ही जीवात्मा और परमात्मा निवास करते हैं, किन्तु वे शरीर में दिखायी नहीं देते। जैसे अग्नि काष्ठ में विद्यमान है। सदा रहती है। संघर्ष से—घिसने से—वह प्रत्यक्ष हो जाती है। ईंधन में—लकड़ी आदि में—दिखाई देती है। ईंधन के समाप्त होने पर फिर अदृश्य हो जाती है। फिर संघर्ष करने पर प्रकट हो जाती है, ईंधन नाश-

वान् पदार्थ है। जीव तथा ईश्वर अविनाशी हैं। वे शरीर में अप्रत्यक्ष रूप से हृदय कमल में रहते हैं। प्रणव के जप द्वारा वे प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं। जैसे दो अरणियो के मन्थन से अग्नि प्रत्यक्ष प्रकट हो जाती है।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रणव का मथन केसे करे ?"

सूतजी ने कहा—"यज्ञों में जो मन्थन द्वारा अग्नि उत्पन्न की जाती है, उसमें एक नीचे की दूसरी ऊपर की दो अरणियाँ होती हैं। जब कोई बलवान् ऋत्विज बलपूर्वक मथता है, तब मथने से अग्नि की चिनगारियाँ उठने लगती हैं, उन चिनगारियों को रुई आदि में रखकर जलाया जाता है। इसी प्रकार अपनी देह को तो नीचे की अरणी बनावे और ओंकार को ऊपर की-उत्तरारणि-बनावे। निरन्तर सावधानी से ध्यानपूर्वक जप का अभ्यास करने से साधक, हृदय के मध्य मे छिपे उन परमदेव-परमेश्वर-को देख सकता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जैसे रोग केवल ओषधि खाने से ही नहीं जाता उसके लिये कठोरता से पथ्याहार पर भी ध्यान दिया जाता है। वेसे ही हृदय में छिपे परमात्मा के साक्षात् कार करने के लिये कौन कौन से सयम नियमों का पालन आवश्यक है ?"

सूतजी ने कहा—"मुनियो! तिलों में तेल छिपा रहता है, दही में घृत छिपा रहता है, सोतों में पानी छिपा रहता है। पहाड़ों पर ऐसे सोते हैं जो भीतर ही भीतर बहते रहते हैं, उनका जल दीखता नहीं। खोदकर उसमें यत्न पूर्वक लौह नल लगा देने से वह सोता फूट पडता है, उसमें से निरन्तर जल बहने लगता है। काष्ठ को अरणि में अग्नि छिपी रहती है, घिसने से वह प्रत्यक्ष हो जाती है। इसी प्रकार वह परमात्मा

हृदय प्रदेश में छिपा हुआ है। वह सत्य के द्वारा, तप के द्वारा तथा प्रणव के जप के द्वारा प्रकट हो जाता है। उसका नित्य नियम से संयम पूर्वक निरन्तर ध्यान करता रहे, तो वह अग्राह्य परमात्मा भी ग्रहण किया जा सकता है, उस परब्रह्म परमात्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जा सकता है। जैसे दूध में घृत कहीं अन्यत्र से लाकर रखा नहीं जाता, दूध के अणु-अणु में घृत युक्ति द्वारा परिश्रम करने से प्राप्त किया जाता है, ऐसे ही सर्वान्तर्यामी प्रभु को आत्मविद्या तथा तपस्या द्वारा उपलब्ध किया जा सकता है। साधक को सावधानी के साथ साधन द्वारा साध्य को जान लेना चाहिये कि उपनिषदों में बार-बार जिस ब्रह्म का वर्णन किया गया है वही सबसे श्रेष्ठ तत्त्व परब्रह्म परमात्मा है। इस बात को पुनः-पुनः बताया गया है, कि उपनिषदों में वर्णित परम तत्त्व एक मात्र ब्रह्म ही है।"

शौनकजी ने पूछा—"अध्याय के अन्त में एक ही वाक्य को दो बार क्यों कहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"यह प्रचीन सदाचार है। अध्याय पूर्ति का संकेत है। शास्त्रों में कहा है, अध्याय के आरम्भ के श्लोक को और अन्त के श्लोक को दो बार पढ़ना चाहिये इससे पूरा अध्याय सम्पुटित हो जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! केवल सत्याचरण और तपस्या करते हुए प्रणव का जप ही करे, कि और भी कुछ साधन ब्रह्म साक्षात्कार के निमित्त करना चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"जप के साथ-ही-साथ स्तोत्र-पाठ, ध्यान आदि भी करने चाहिये। भू शुद्धि करके ध्यान में बैठना चाहिये, इन सबका वर्णन अगले द्वितीय अध्याय में किया जायगा। आशा

है आप इस पावन प्रसंग को प्रेम पूर्वक श्रवण करने की कृपा करेंगे।"

### छप्पय

( १ )

*हृदय कमल में जीव ब्रह्म दोऊ ई निबसें।*
*परब्रह्म ही ज्ञेय साधना तें ही निकसें॥*
*प्रेरक भोक्ता भोग्य जानिकें सब कुछ जान्यो।*
*ब्रह्म त्रिविध यों जानि ब्रह्मविद वेदनि मान्यो॥*
*ईंधन अगिनी दिखै नहिँ, करि प्रयत्न पुनि पुनि दिखै।*
*जाप प्रणव तैं देह में, जीव ब्रह्मकूँ ही लखै॥*

( २ )

*देह अधोऽरणि प्रणव उपर की अरणि बनावै।*
*करि करि मन्थन ध्यान अगिनि सम ब्रह्म लखावै॥*
*जैसे तिल में तैल दही में घृत जल सोतनि।*
*अरनिनि में ज्यों अगिनि छिपी त्यों ब्रह्म शरीरनि॥*
*संयम, जप, तप, सत्य तैं, साधक जो चिन्तन करै।*
*देखै वह ही ब्रह्मकूँ, अमर होहि नहिँ वह मरै॥*

( ३ )

*दूध दही करि मथै जतन तैं घृत मिलि जावै।*
*त्यों पूरन परब्रह्म ध्यान जप तप करि पावै॥*
*संयम साधन करै आतम विद्या है प्रातक।*
*पाइ उपनिषद ब्रह्म विषय जगके हैं बाधक॥*
*सबहिँ उपनिषद एक स्वर, ब्रह्महिँ देइँ महत्त्व है।*
*उपनिषदनि में कथित यह, परब्रह्म पर तत्त्व है॥*

इति श्वेताश्वतर उपनिषद् का प्रथम अध्याय
समाप्त।

# स्तुति-पाठ

[ २७३ ]

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥*

(श्वेता० अ० उ० २ अ० ५ श्लोक)

छप्पय

( १ )

*तत्व प्राप्ति के हेतु हमें सविता अपनावें।*
*और प्रथम मन बुद्धि रूप निज माहिं लगावें॥*
*अग्नि आदि जो देव अधिष्ठाता इन्द्रिनि ते।*
*विषय प्रकाशित करत उलटि इन्द्रिनि विषयनि ते॥*
*जो प्रकाश इनि इन्द्रियनि, विषयनि में जावे नहीं।*
*इस्थिरता मन बुद्धि की, करै अनत भाजै नहीं॥*

स्तुति, स्तोत्र, प्रशंसा, नुति, स्तवन ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। भगवान् ने तो जगत् को जब बनाया होगा, तब बनाया

---

* हे मन और बुद्धि! मैं तुम दोनों को बार-बार नमस्कार द्वारा सबके आदि उन परब्रह्म में नियोजन करता हूँ। मेरा यह स्तुति श्लोक सूरि पुरुषों की कीर्ति के सदृश सर्वत्र प्रसारित हो जाय। समस्त अमृत के पुत्र जो दिव्य धामों में निवास करते हैं, इस पुण्य प्रार्थना को सुनें।

होगा, किन्तु हम अपनी भावना के अनुसार भगवान् को नित्य ही बनाते हैं। अपनी भावना के अनुसार भगवान का निर्माण करते हैं। जिसकी जैसी भावना होती है, उसे वैसी ही सिद्धि प्राप्त होती है। हम अपनी भावना के अनुसार परिपूर्ण ब्रह्म का निर्माण करने में असमर्थ हैं, अतः क्योंकि भगवान् ने हमें परिपूर्ण नहीं बनाया है। जैसे हम अधूरे हैं, वैसे ही अधूरे भगवान् की हम कल्पना करते हैं। अधूरे भगवान् का निर्माण करते-करते कभी परिपूर्ण को भी प्राप्त कर लेते हैं। लडकियों को जब तक पति, पुत्र की प्राप्ति नहीं होती, तब तक वे गुड्डा गुड़ियों से ही खेलती हैं। गुड्डा गुडियों का विवाह करती हैं, उनकी बरात निकालती हैं, भोज करती हैं, फिर उनके पुत्र होता है, उसका लालन-पालन करती हैं। झूठा खेल खेलते खेलते एक दिन उनका यथार्थ विवाह हो जाता हे, वे स्वय दुर्लहिनि बन जाती हैं, फिर उनके यथार्थ में पुत्र हो जाता है, वे माता बन जाती हैं। इसी प्रकार साधक स्वनिर्मित भगवान् की पूजा स्तुति करते करते एक दिन यथार्थ में प्रभु को प्राप्त कर लेते हैं। साधक भगवान् की षोडशोपचार या पचापचार आदि विधियों से पूजा करता है। पाद्य, अर्घ्यादि देता है। जैसे बाहर से आये अतिथि को हाथ पैर धुलाकर आचमनादि कराके भोजन कराते हैं वैसे ही भगवान् की पूजा करके उनके सम्मुख नेवेद्य रखते हैं। जो-जो वस्तुएँ अपने को अत्यन्त प्रिय हो, उन्हीं का भगवान् को भोग लगाना चाहिये। क्योंकि मनुष्य जो अन्न खाता है उसी को अपने भगवान् को भी भोग लगाता है। (यदन्न पुरुषो भवति तदन्न तस्य देवता) इसी प्रकार ससार में सभी को अपनी प्रशसा प्रिय लगती है। ससार में ऐसा कोई भी पुरुष न होगा, जिसे अपनी स्तुति अच्छी न लगे। (स्तोत्र कस्य न रोचते भुवि नृणाम्) इसी भाव से हमारे भगवान् को

अपनी स्तुति अच्छी लगती होगी, अतः भगवान् को प्रसन्न करने के निमित्त हम स्तोत्रों द्वारा उनकी स्तुति करते हैं। भगवान को चाहें व्यक्तिगत रूप से अपनी प्रशंसा भले ही न सुहाती हो, किन्तु स्तुति कर्ता की प्रसन्नता के हेतु भगवान को स्तुति से प्रसन्न होना ही पड़ता है। क्योंकि उनका व्रत है कि भक्त उनको जिस भावना से भजता है, भगवान भी उसे उसी भावना से भावित होकर उसकी इच्छानुसार ही फल भी देते हैं। अतः भगवान् को प्रसन्न करने का स्तोत्र पाठ करना सबसे सरल, सुगम, सरस साधन है। स्तुति पाठ से अन्तःकरण तन्मय हो जाता है। ऐसे अन्तःकरण में प्रवेश करके भक्तवत्सल भगवान् साधक को अवश्य दर्शन देते हैं। अतः नित्य ही नियम से भगवान् की जै *बार दिन में बन सके तै बार अवश्य ही स्तुति करनी चाहिये।*

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! पीछे भगवत् प्राप्ति के लिये सत्य तथा तपस्या करते हुए प्रणव का जप और ध्यान ये साधन बताये। अब इस आगे के अध्याय में ध्यान का प्रकार बतावेंगे। पहिले भगवान् के ध्यान के पूर्व हाथ जोड़कर नम्र भाव से गद्-गद स्वर में उनकी स्तुति करनी चाहिये। भगवती श्रुति स्तुति के मन्त्र बताकर स्तुति करने की विधि बताती है।"

( १ )

भगवान् का एक नाम सविता है। वैसे सविता शब्द का अर्थ है, जो सबको उत्पन्न करे ( सूते लोकादीन्–इति=सविता ) सूर्य के अर्थ में रूढ़ि है। सूर्य भी विष्णु स्वरूप ही हैं। अतः वे सबको उत्पन्न करने वाले सविता परमात्मा हमारे मन को तथा हमारी बुद्धि को निर्मल तथा पवित्र बना दें, जिससे हमें तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हो और उन सविता के स्वरूप की उपलब्धि हो। हमारी इन्द्रियों के जो इन्द्र, अग्नि आदि अधिष्ठातृ देवता हैं,

उन्हीं की सामर्थ्य से इन्द्रियाँ विषयों को प्रकाशित करती हैं। इन्द्रियों में स्वतः विषयों की ओर जाने की सामर्थ्य नहीं, जब उन्हें अपने अधिष्ठातृ देवताओं द्वारा प्रकाश प्राप्त होता है, तभी इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होती हैं। तो आप इन देवताओं को भगवन्! ऐसी प्रेरणा करें कि हमारी इन्द्रियों को संसारी विषयों से रोक कर उन्हें आप में लगने की प्रेरणा दें। इन्द्रियाँ जो विषयों को देखकर देवताओं के प्रकाश को पाकर चंचल हो जाती हैं, आप देवताओं से कह दें, वे इन्द्रियों में चंचलता न आने दें, उनमें स्थिरता स्थापित कर दें। जिससे हमारी इन्द्रियाँ बाहरी विषयों में भटकती न फिरें। एकाग्र हुए तथा विशुद्ध बुद्धि में ही इन्द्रियों का प्रकाश सीमित रहे। अर्थात् इन्द्रियों का द्वार बाहर की ओर होने से बाहरी विषयों में भटकना उनका स्वभाव है। वह स्वभाव परिवर्तित होकर वे आत्मा में–परमात्मा में लग जायँ। बाहर की ओर न देखकर भीतर की ओर देखें।

( १ )

*तत्त्व प्राप्ति के हेतु हमें सविता अपनावें।*
*मोर प्रथम मन बुद्धि रूप निज माहिँ लगावें॥*
*अग्नि आदि जो देव अधिष्ठाता इन्द्रिनि ते।*
*विषय प्रकाशित करत उलटि इन्द्रिनि विषयनि ते॥*
*जो प्रकाश इनि इन्द्रियनि, विषयनि में जावै नहीं।*
*इस्थिरता मन बुद्धि की, करै, अनत भाजै नहीं॥*

( २ )

हे प्रभो! हमारी आपके पुनीत पादपद्मों में यही पुनः पुनः प्रार्थना है कि हम लोग परमात्मा आपको–जो आप इस सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड को रचने वाले हैं–उनकी आराधना रूप यज्ञ में

अपने मन को लगा दें। आप में मन लगाने से क्या होगा ? जैसे यज्ञ में मन लगाने से स्वर्गीय सुखों की प्राप्ति होती है वैसे ही आपकी उपासना रूप यज्ञ में मन लगाने से आपकी प्राप्ति रू स्वर्गीय सुख मिलेगा। अतः हमारी आपके चरणों में यही प्रार्थना है। कि हमारा मन पूरी शक्ति से आपको प्राप्त करने का प्रयत्न करे।

( २ )

*आराधन मिलि करें यज्ञ जाई कूँ जानें।*
*सबके सविता देव आपकूँ सब कुछ मानें॥*
*मन तै परमानन्द प्राप्तहित जतन करें नित।*
*आराधन में लग्यो रहै हमरो चंचल चित॥*
*पूर्ण शक्ति के सहित मन, सुख स्वर्गीय निमित्त हित।*
*लग्यो रहै, विषयनि जगत, भूलि कबहुँ नहिँ जाइ चित॥*

( ३ )

हे सविता देवता! तुम सबको उत्पन्न करने वाले हो, सबके उत्पादक तथा जनक हो। इन्द्रियों के जो अग्नि आदि अधिष्ठातृ देवता हैं, जो स्वर्ग में तथा आकाशादि में विचरण करते रहते हैं, जिनका महान् प्रकाश–बृहत् आलोक–चारों ओर फैला रहता है। जो प्रकाश को फैलाने वाले हैं। उन देवताओं को हमारे मन से तथा हमारी बुद्धि से युक्त कर दें जिससे हमारा मन तथा बुद्धि विषयों की ओर न जाकर आपके ध्यान के प्रकाश में प्रकाशित रहें। आप उन इन्द्रिय अधिष्ठातृ देवों को इसी प्रकार की प्रेरणा प्रदान करें।

( ३ )

*जग उत्पादक ईश देव सविता कहलावें ।*
*करणाधिष्ठित देव स्वरग दिवि आवें जावें ॥*
*बृहत ज्योति फैलाय दिव्यता देव दिखावें ।*
*वे हमरी मन बुद्धि सकल सयुत है जावें ॥*
*उनि देवनिकूँ हे प्रभो ! करो प्रेरना प्रेम तैं ।*
*शुद्ध बुद्धि मनकूँ करें, करें उपासन नेम तैं ॥*

( ४ )

इस ससार में स्तुत्य एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही हैं। स्तुति करने योग्य एक मात्र वे ही हैं। जीव तो पराधीन है। सबसे विशुद्ध वे ही हैं, शुभ कर्मों के निर्माता भी वे ही हैं, सबके स्वामी भी वे ही हैं। इसीलिये जो षट् कर्मों को करने वाले, जो वेदों का स्वाध्याय करने वाले विप्रगण हैं, वे अपने मन को उन्हीं परमात्मा में लगाते हैं। यही नहीं अपनी बुद्धि को–प्रज्ञा को–उन्हीं में स्थिर करते हैं। ससार में वेद विहित जितने भी यज्ञादि शुभ कर्म हैं, उन सबका विधान भी वे ही विश्वेश्वर विभु करते हैं। वे सर्वज्ञ हैं, ससार के जितने भी जीव हैं, सबके विचारों को–भावों को वे भली-भाँति जानते हैं। वे एक हैं, अद्वितीय हैं, उनके सदृश शक्तिशाली दूसरा कोई है ही नहीं। वे महान् से भी महान्, बृहद् से भी बृहद् हैं, श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ हैं, बडे से भी बडे हैं। वे एक देशीय नहीं। यत्र-तत्र सर्वत्र सब स्थानों में व्याप्त हैं, सर्व-व्यापक हैं। वे विपश्चित हैं, सर्वज्ञ हैं, सभी को जानते हैं। वे सविता हैं, सबको उत्पन्न करने वाले हैं। समस्त जगत के उ॰ हैं। वे दिव्य गुणों दिव्यातिदिव्य, देव हैं, इसीलिये उन्हीं

परमात्मा प्रभु की हमें परिष्टुति-स्तुति-महती स्तुति प्रार्थना करनी चाहिये।

( ४ )

*उन प्रभु इस्तुति करो विप्र मन जिनहिं लगावैं।*
*अग्निहोत्र शुभ करम करन विधि सकल बतावैं॥*
*जग विचारविद देव एक सबतैं महान हैं।*
*जो व्यापक सरवज्ञ जगत के उत्पादक हैं॥*
*हैं देवाधिप देव वे, कोई उनतें श्रेष्ठ नहिं।*
*महती इस्तुति योग्य है, कोई उनतें ज्येष्ठ नहिं॥*

( ५ )

हे मन! तुम मनन किया करते हो। हे बुद्धि तुम निश्चय करती हो, तुम दोनों मेरी बात सुनो कि तुम दोनों के सहित मैं तुम्हारे जो प्रेरक स्वामी हैं, जिनसे पूर्व कोई भी नहीं हैं, जो समस्त विश्व ब्रह्मांडों के आदि कारण परब्रह्म परमात्मा हैं, उनको मैं नमस्कार करूँ। मन से नमस्कार करके, बुद्धि से नमस्कार करके मैं उनमें मिलता हूँ, उनमें संयुक्त होता हूँ। तुम भी मेरा अनुगमन करो, तुम भी उनमें मिल जाओ। मैं उन्हीं सर्वेश्वर की स्तुति करता हूँ। मेरा यह स्तुति पाठ उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् में प्रसारित हो जाय-फैल जाय-जिस प्रकार सूरि पुरुषों की-विद्वान् सद्गुण सम्पन्न सज्जनों की-कीर्ति दिग्दिगान्तों में फैल जाती है। उन प्रभु की इस अनन्त सर्वव्यापिनी कीर्ति को दिव्यलोकों में निवास करने वाले समस्त अमृत पुत्र सुखपूर्वक श्रवण करें। उन ललितत्रिभंग लावण्ययुक्त परमेश्वर के लाड़िले लाल भली भाँति उनके यश का श्रवण करें।

( ५ )

*हे मेरे मन ! बुद्धि ! तुम्हारे स्वामी है प्रभु ।*
*उन परात्पर ब्रह्मयुक्त है नमन करौं विभु ॥*
*मेरो इस्तुति पाठ सूरि की कीर्ति सरिस बनि ।*
*फैले जग सरबत्र सुनें सब सुकृति पुरुष धनि ॥*
*सुने अमृत के पुत्र सब, दिव्य धाम ज बसत हैं ।*
*इस्तुति सुनि हरषें सुकृति, दुष्कृति सुनिके हँसत हैं ॥*

( ६ )

सूतजी कहते हैं—'मुनियो ! इस प्रकार परब्रह्म परमात्मा का स्तुति का प्रकार बताकर ध्यान करने से ध्यान की जो स्थिति होती है, ध्येय का ध्यान करने से ध्याता को जो सुख मिलता है, उसका मन जैसे निर्मल पवित्र हो जाता है, उसका वर्णन करते हुए कहते हैं—"यह जो परमात्मा का ध्यान है, यह एक प्रकार का महान् यज्ञ है। यज्ञ में दो अरणियों की रगड से यज्ञीय अग्नि उत्पन्न की जाती है यहाँ अग्नि क्या है ? तो कहते हैं शरीर तो नीचे की अरणि है और प्रणव-ओंकार ऊपर की अरणि है। बस ओंकार का निरन्तर सघर्षण करके-जप करके, ध्यान करके-अग्नि रूप परमात्मा को प्रकट किया जाता है। अरणि मन्थन वायु जहाँ निरुद्ध हो निर्वात स्थान मे की जाती है। अतः परमात्म प्राप्ति के लिये जप और ध्यान वायु का अवरोध करके प्राणायाम पूर्वक-करना चाहिये। तो इस ध्यान रूप यज्ञ में सोम-रस प्रकट होगा। यज्ञों में जैसे हवन के अनन्तर सोमरस पान का पर्व होता है, वैसे ही इस ध्यान यज्ञ से सोमरूप परमानन्द प्रकट होता है। ध्यान से परमात्मा की प्राप्ति होती है। यज्ञ में सोमरस पान करने से आत्म शुद्धि होती है, इसी प्रकार २५

ध्यान रूप यज्ञ से जो परमानन्द प्राप्त होगा, उसके आस्वादन से मन विशुद्ध बन जाता है। विशुद्ध मन में ब्रह्म का साक्षात्कार होता है—

( ६ )

तहँ मन होवै शुद्ध अग्नि मन्थन जहँ होवै।
देह प्रणव जपि ध्यान यज्ञ तैं प्रभुकूँ जोवै॥
प्राण वायु संरोध करें विधिवत साधकगन।
जहाँ सोमरस मिलै करें ऋषि मुनि अभिनन्दन॥
करि स्वदेह नीची अरनि, प्रणव करै उत्तर अरनि।
यज्ञ होहि मथि यज्ञ तैं, मिलै सोमरस सुखद बनि॥

( ७ )

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार ध्यान की स्थिति का वर्णन करके अब साधकों को ध्यान में लग जाने का आदेश करते हुए भगवती श्रुति कह रही है—"हे साधकगण! वे परब्रह्म परमात्मा सविता हैं–समस्त जगत् के उत्पादक हैं, उनके द्वारा जो प्रेरणा प्राप्त हुई है उसी प्रेरणा के द्वारा उन परात्पर परमात्मा की–सबके आदि कारण उन परमेश्वर की–सेवा–पूजा–अर्चना आराधना–करनी चाहिये। एकमात्र उन्हीं सर्वात्मा सर्वाश्रय सर्वेश्वर का आश्रय ग्रहण करना चाहिये। उन सर्वज्ञ सर्वभूतात्मा सर्वान्तर्यामी का आश्रय लेने से पूर्व संचित समस्त कर्म विघ्नकारक नहीं होते, अर्थात् सभी संचित और क्रियमाण कर्म नष्ट हो जाते हैं। जीवात्मा कर्म के बन्धनों से सर्वथा छूट जाता है। इस प्रकार श्रुति ध्यान का आदेश देकर जैसे अब ध्यान करने की विधि बतावेगी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

( ७ )

छप्पय

कान खोलिके सुनो, सकल साधक चित लाओ ।
प्रभु प्रेरित उपदेश हरषि मन ध्यान लगाओ ।
सबके कारन आदि मग्र आराधन करिके ।
आश्रय करिके प्राप्त ध्यान श्रद्धातें धरिके ॥
तो तेरे पूरब करम, विघ्न रूप ह्वावें नहीं ।
सेवा करि परमेश की, करम कष्ट देवें कहीं ?

# ध्यान की विधि और उसका फल

( २७४ )

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य । ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥*

(श्वे० अ० उ० २ अ० ८ मं०)

छप्पय

*सिर, गल, छाती तानि सीध तन मन इन्द्रिय थिर ।*
*हिय निरुद्ध करि नाव प्रणव चढ़ि भव सागर तर ॥*
*युक्ताहार विहार प्राण संयम रथवत करि ।*
*मन वश में करि ध्यान शुद्ध भू सुखपूर्वक धरि ॥*
*अग्नि, वायु, नीहार रवि, धूम, फटिक, खद्योत, मनि ।*
*विद्युत अरु शशि के सरिस, दृश्य दिखें साधकहिं धनि ॥*

इस शरीर में मेरु दंड ही प्रधान है । इकहत्तर करोड़ नाड़ियों में जो सबसे श्रेष्ठा सुषुम्ना नाड़ी है, जिसमें से समस्त नाड़ियाँ निकलती हैं, वह मेरुदंड में ही स्थित है । मेरुदंड या रीढ़ सर्वथा

* ध्यान करने वाले विद्वान् साधक को चाहिये कि शरीर के तीनों स्थानों (सिर, कंठ और वक्षःस्थल) पर उभरे शरीर को सीधा करके उसे भली प्रकार स्थिर करे । फिर इन्द्रियों को मन से हृदय में संनिवेशित करे । प्रणवरूपी नौका से समस्त भयावह स्रोतों के जल प्रवाह को तर जाय । पार हो जाय ।

सीधा नहीं है। वह सिर में, कंठ में और वक्षःस्थल में टेढ़ा है। साधारणतया हम बैठते हैं, तो मेरुदंड टेढ़ा ही रहता है, सहज स्वभाव से हम बैठें तो हमारी कमर लच जाती है, हम टेढ़े बैठते हैं, क्योंकि मेरुदंड त्रिभंग है, तीन स्थानों से टेढ़ा है इसलिये इसे बंकनाल-टेढ़ी-मेढ़ी नली-भी कहते हैं। जब तक आदमी टेढ़ा बैठेगा तब तक सुषुम्ना में प्राणों का संचार होना बन्द रहेगा। जब हम मेरुदंड को अभ्यास द्वारा सीधा कर लेंगे, तब इसमें प्राणों का संचलन प्रत्यक्ष दिखाई देने लगेगा। मेरुदंड सीधा कब होगा ? जब हम आसन से बैठने का अभ्यास करें। आसन किसे कहते हैं ? बैठने की उस स्थिति का नाम आसन है, जिसमें सिर कंठ तथा वक्षःस्थल ये तीनों ही सीधे रहे आवें और हमारी कमर पीछे की ओर निकली न रहकर सीधी रहे-सुस्थिर रहे-अशुद्ध बैठते रहने के कारण हमें टेढ़ी कमर करके बैठने में ही सुविधा प्रतीत होती है। सुस्थिर सीधे बैठते हैं, तो हमें असुविधा होती है। यह अशुद्ध बैठने का फल है। जब कमर को सीधा करके-सिर, कंठ और छाती को तान कर हम बैठें तो इससे एक अपूर्व प्रकार का सुख होता है। तो स्थिर होकर सुखपूर्वक बैठने का ही नाम आसन है। ध्यान या जप करने जब भी बैठे, तब कमर को सीधा करके सुस्थिरतापूर्वक ही बैठे, तभी ध्यान करने में आनन्दानुभूति होगी। इसलिये जप तथा ध्यान का श्रीगणेश सीधा सुस्थिर बैठने से-आसन से ही-आरम्भ होता है। अष्टाङ्गयोग के जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग हैं। इनमें यम और नियम तो सभी को पालन करने ही पड़ते हैं। इनका सम्बन्ध मन से है। योग का आरम्भ तो आसन से होता है और ध्यान की परिपक्वावस्था समाधि में ही उसकी समाप्ति है। स्व--

स्वरूप में स्थित हो जाना ही समाधि का फल है। इसीलिये अष्टांग योग को षडाङ्गयोग भी कहते हैं। ध्यान द्वारा ध्याता–ध्यान करने वाला–अपने ध्येय को प्राप्त करता है। ध्यान करने वाले को सर्वप्रथम बैठने का–आसन सिद्धि का–अभ्यास करना चाहिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! ध्यान करने का अभ्यास करते वाले साधक को समभूमि में गुदगुदा आसन बिछाकर–जिसके सबसे नीचे कुशासन, फिर मृगचर्म और उसके ऊपर ऊनी या सूती वस्त्र का आसन हो–उस पर कैसे बैठना चाहिये इसे बताते हैं।"

यह मानव शरीर स्वभाव से तीन स्थानों से टेढ़ा है अर्थात् झुका हुआ है। जब भी बैठे तब शरीर को सीधा करके बैठे विशेषकर ध्यान के समय तो शरीर को सुस्थिर करके ही स्थित हो। बुद्धिमान साधक को चाहिये ध्यान करने जब हम बैठें, तो सिर को, कंठ को तथा वक्षःस्थल को सीधा करके, छाती को कुछ ऊपर उभार कर सम्पूर्ण शरीर को स्थिर रखे। शरीर इधर-उधर आगे-पीछे की ओर झुकने न पावे। सीधे बाँस की भाँति उसे एक सीध में रखे। ढोला छोड़ देने से–शरीर को झुका देने से–ध्यान के समय निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद ये आकर शरीर पर अधिकार जमा लेते हैं। फिर सम्पूर्ण इन्द्रियों को उनके तत्तद् विषयों से हटाकर मन के द्वारा उनका संरोध करके सभी बाह्य-विषयों से खींचकर हृदय में ही उन्हें रोके रहना चाहिये। उन्हें वहीं निरुद्ध कर लेना चाहिये।

इन इन्द्रियों के प्रवाह-वेग बहुत प्रबल हैं। जैसे जल के स्रोत एकत्रित होकर नदी का रूप रखकर दुस्तर हो जाते हैं, फिर बिना नौका के उन्हें पार करना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार विषय

वासना के जो स्रोत हैं, वे सब मिलकर परम प्रवाह रूपी वही संसार नदी बन जाती है। इस संसार नदी को प्रणव रूपी नौका से-ॐकार के जप ध्यान से-इस भव नदी को पार कर लेना चाहिये। जहाँ न जरा का भय है न आधि-व्याधि तथा मृत्यु का भय है। प्रणव द्वारा वहाँ जाकर अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।"

शौनकजी ने पूछा—"समभूमि में चैल अजिन और कुशोत्तर आसन पर सुस्थिर सीधा बैठकर क्या करे?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! साधक को सबसे पहिले अपने आहार-विहार को विशुद्ध बना लेना चाहिये। क्योंकि आहार शुद्धि से ही सत्त्वसिद्धि सम्भव है। अतः आहार विहार की समस्त चेष्टाओं को युक्त करके समस्त कर्मों को यथावत् करके प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये। प्राणों का संयम किये बिना मन स्थिर नहीं होता। प्राणायाम से प्राणों की गति सूक्ष्म हो जाती है। कुम्भक प्राणायाम करके, फिर नासिका के छिद्र से शनैः-शनैः वायु को रेचन करना चाहिये-बाहर निकाल देना चाहिये-तब मन को वश में करना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"मन को वश में कैसे करें?"

सूतजी ने कहा—"जैसे घोड़े को लगाम के द्वारा अश्वारोही वश में कर लेता है, उसी प्रकार इन चंचल इन्द्रियों के मन रूपी लगाम द्वारा मन को वश में किया जा सकता है। यह शरीर एक रथ है, इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं, मन लगाम है, बुद्धि सारथी है, जीवात्मा इस रथ का स्वामी-इस पर चढ़कर यात्रा करता है। यदि बुद्धि रूप सारथी सावधानी [illegible] लगाम रूप मन को-सावधानी से खींचे रहे, तो घोड़े वश में बने रहें, रथ पथभ्रष्ट नहीं होता। इन्द्रिय रूप घोड़े चाहें कैसे भी दुष्ट हों, यदि सारथी [illegible]

राजपथ को–गन्तव्य मार्ग को–छोड़ता नहीं, सुपथ में ही चलता। यदि बुद्धि रूप सारथी इन्द्रिय रूप अश्वों की मन रूपी लगाम को सावधानी से पकड़े रहता है तो रथ अपने रथी–जीवात्मा–को गन्तव्य स्थान पर पहुँचा ही देता है।"

शौनकजी ने पूछा—"ध्यान जिस भूमि पर बैठकर किया जाय, वह भूमि कैसी होनी चाहिये ?"

सूतजी ने कहा—"ऐसी भूमि पर ध्यान करने का आसन जमावे जो ऊँची-नीची-ढालू न हो। सीधी सम हो। जिसमें कंकड़ पत्थर न हों। कँकरीली बहुत बालू वाली भी न हो। जहाँ पर कोलाहल न होता हो, शान्त एकान्त सुन्दर वातावरण हो, बहुत रूक्ष स्थान भी न हो, सुन्दर जलाशय पवित्र नदी समीप ही हो, जिससे जल की असुविधा न हो। ऐसा सुन्दर आश्रय हो जहाँ सभी आवश्यक वस्तुओं का सुपास हो, ध्यानोपयोगी सभी प्रकार की अनुकूलतायें हों। स्थान रमणीक हो, जहाँ नेत्रों को पीड़ा पहुँचाने वाले भयानक दृश्य, धूँआ आदि न हों जहाँ विशेष वायु का भी प्रकोप न होता हो ऐसी निर्वात कुटिया में गुफा में नदी के निकट पवित्र स्थान में आसन लगाकर मन को जीतने के लिये ध्यान लगाना चाहिये। निरन्तर ध्यान किया करे। दीर्घ काल तक श्रद्धा के सहित ध्यान करे।"

शौनकजी ने पूछा—"यह कैसे पता चले, कि हमारा ध्यान ठीक हो रहा है ? हम ध्यान में उन्नति कर रहे हैं ?"

सूतजी ने कहा—"जब ध्यान करते-करते दृष्टि के सम्मुख नीहार-कुहरा-सा छाया हुआ दिखायी दे। धूँआ के समान काला-काला परदा-सा दीखे। वायु की-सी सनसनाहट सुनायी दे। अग्नि के रंग के सदृश लाल-लाल, सूर्य के सदृश सफेद-सफेद जुगनू की भाँति सफेद प्रकाश आँख बंद करने पर तथा खोलने

पर भी दिखायी दे। जिधर दृष्टि घुमावे उधर ही वह दिखायी देने लगे। कभी बिजली जैसी चमक दिखायी दे। कभी स्फटिक मणि के सदृश शुभ्र गोल-गोल ज्योति दिखायी दे। साधक के सम्मुख ऐसे दृश्य जब दिखायी देने लगे, तब समझना चाहिये हम ध्यान में आगे बढ रहे हैं। ये सब ध्यान की सफलता के स्पष्ट चिन्ह हैं।

इस प्रकार ध्यान करते-करते साधक का पाँचों भूतों पर अधिकार हो जाता है। अर्थात् वह पृथ्वी में जहाँ चाहे जा सकता है, उसे किसी भी स्थान में कितनी भी मोटी दीवालों वाले घर में बन्द कर दो वह उसमें से चला आवेगा। पृथ्वी फोड़कर रसातल तक चला जायगा। जल पर चल सकेगा। जल का स्तम्भन करके उसमें जब तक चाहे घर की भाँति सुखपूर्वक रह सकेगा। अग्नि में प्रवेश करने पर अग्नि उसे जलावेगी नहीं। उसका शरीर अग्निमय बन जायगा। वह वायु में जहाँ चाहे उड़कर जा सकेगा। वायु के प्रवाह को जैसे चाहे बदल सकेगा, उसका शरीर वायुमय हो जायगा। अपने स्थान पर बैठे बैठे जहाँ का चाहे वहाँ का शब्द सुन सकेगा। उसका सम्पूर्ण शरीर आकाश की भाँति महान विस्तृत अत्यन्त सूक्ष्म बन सकेगा। उसका शरीर योगाग्नि में तपने से इतना विशुद्ध हो जाता है कि उसे दूर का शब्द, रूप, रस गन्ध और स्पर्श का बोध हो जाता है। उसे ज्योतिष्मती, स्पर्शवती, रसवती, तथा गन्धवती ये योग की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। फिर उसके शरीर में कभी भी कोई भी रोग आक्रमण नहीं कर सकता, वृद्धावस्था तथा मृत्यु उसके पास भी नहीं फटक सकती। वह चाहे जितने दिनों तक जीवित रह सकता है। उसकी इच्छा के बिना मृत्यु नहीं आ सकती। वह,जब तक स्वयं इच्छा न करेगा, तब तक उसका शरीर नष्ट न

होगा, वह अजर अमर हो जायगा। ध्यान सिद्धि क
प्रतिफल है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! यह तो आपने ध्या
सिद्धि की बात बता दी। जैसे ध्यान में आगे बढ़ने वाले साध
सूर्य, अग्नि, चन्द्र, रवि, धूँआ कुहरा आदि दीखने के स्पष्ट
आपने बताये। वैसे ही साधक योग की सिद्धियों में आगे
रहा है इसके आरम्भिक चिन्हों को और बतावें। किन लक्षण
यह जाना जाय कि यह योग सिद्धियों का पात्र बनकर उन्हें
करने जा रहा है?"

सूतजी ने कहा—"ध्यान करते-करते जब कुछ-कुछ ध
लगने लगता है, मन स्थिर होने लगता है, शरीर के मल न
होने लगते हैं। तब योग सिद्धि के–योग प्रवृत्ति के–आरम्भि
चिन्ह ये-ये हैं। योग की पहिली सिद्धि में सर्वप्रथम तो य
स्थूल शरीर शुद्ध हो जाता है। इस शरीर को मलायतन-मल
का घर–बताया है। इसमें चारों ओर मल-ही-मल भरे हैं। शरी
के नौ द्वारों से–आँख के दो, कान के दो, नाक के दो, मुख
एक, गुदा और लिंग के एक-एक–इस प्रकार नौओं द्वारों से
इसमें से मल-ही-मल बहता है। द्वारों से ही नहीं प्रत्येक रोम से
मल–स्वेद–पसीना के रूप में निकलता ही रहता है। हम जो
आहार करते हैं वह आमाशय में जाकर एकत्रित होता है,
पक्वाशय में पकता है। उसमें का सार भाग रस बन जाता है।
शेष किट्ट–मल और मूत्र बन जाता है। रस का रक्त बनता है,
रक्त से मांस, मज्जा, मेद, अस्थि तथा वीर्य बनता है। इन सब
में मल रहता है, रक्त का मल, मांस का, मज्जा, मेद, अस्थि का
मल तथा वीर्य का भी मल होता है। शरीर मलों का थैला ही
है। जप, प्राणायाम तथा ध्यान से समस्त मल नष्ट हो जाते हैं।

शरीर निर्मल कृश तथा लघु हलका हो जाता है। भारीपन तो मलों में ही है। रोग भी मलों से ही होते हैं। मल कहो रुज कहो रोग, ज्वर, पाप, कल्मष, अघ, गद ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। शरीर निर्मल होते ही वह रोग रहित बन जाता है उसमें फिर किसी भी प्रकार का रोग नहीं रहता। इन्द्रियों में जो चंचलता–विषयों के प्रति लोलुपता–है वह भी मल के ही कारण होती है। समल इन्द्रियाँ ही विषयों की ओर भागती हैं। यदि शरीर के सब मल नष्ट हो जायँ, वह लघु और निर्मल बन जाय तो इन्द्रियों की लोलुपता अपने आप नष्ट हो जायगी। फिर वे विषयों की ओर अनियमित रूप से न दौड़ेंगी। निरोग बच्चों का शरीर कितना उज्वल आकर्षक होता है–क्योंकि उसमें अभी मलों का संचय नहीं हुआ है। ज्यों ज्यों शरीर में मलों का संचय होता जाता है शरीर का रूप रंग विरूप बनता जाता है। ध्यान द्वारा जब मलों का नाश हो जाता है तब साधक के शरीर का बाह्य रूप भी सुन्दर उज्वल तथा आकर्षक बन जाता है। जैसे बच्चे को सभी प्रेम करने लगते हैं। बच्चों की वाणी कितनी मधुर होती है। इसलिये कि जहाँ से वाणी निकलती है, वह स्थान मल रहित है। ज्यों-ज्यों शरीर में मल बढ़ते जाते हैं, वाणी भद्दी और भारी होती जाती है। शुद्ध अन्तःकरण वाले साधक की वाणी प्यारी और मधुर हो जाती है। प्रायः पुरुषों के शरीर से निकलने वाले स्वेद–पसीने में, मल और मूत्र में दुर्गन्ध आती है। इसलिये कि शरीर के भीतर मल भरा हुआ है। जैसा पदार्थ खाओगे वैसी ही डकार आवेगी–वैसे ही उद्गार निकलेंगे। जिनका ध्यान से शरीर निर्मल हो जाता है, उनके शरीर से एक प्रकार की दिव्य शुभ सुगन्धि निकलती है। उनके मल मूत्र में भी दुर्गन्ध नहीं रहती। उसमें से भी सुगन्ध आती है

और मलमूत्र बहुत ही अल्प होता है, क्योंकि शरीर में मल सचय ही नहीं होता है। इन्हीं सब लक्षणों को योग की प्रथम सिद्धि कहते हैं। ये लक्षण शरीर में आ जायँ, तो समझना चाहिये साधक योग की पाँच सिद्धियों की ओर अग्रसर हो रहा है।"

शौनकजी ने पूछा- "यह जीव क्या स्वभाव से मलावृत है ?"

सूतजी ने कहा—"नहीं भगवन्! जीव तो चैतन्यांश है स्वभावतः शुद्ध बुद्ध है। बस यही इसमें एक अपूर्णता है, कि प्रकृति के संसर्ग से यह मलावृत बन जाता है। जैसे सुवर्ण है बहुत दिनों तक पृथ्वी में गढ़ा रहे तो पृथ्वी के संसर्ग से वह मलावृत हो जाता है। कोई रत्न है कीच में पड़ा रहे, तो कीच के संसर्ग से उसकी चमक नष्ट हो जाती है। किन्तु सुवर्ण को अग्नि में तपाकर उसका मल पृथक् कर दो, वह निर्मल होकर फिर चमकने लगेगा। रत्न है, उसे जल से धो दो, क्षारादि से रगड़ दो तो वह फिर वैसे ही प्रकाशवान् होकर चमकने लगेगा। इसी प्रकार यह जीवात्मा प्रकृति के संसर्ग से मलावृत-सा दीखने लगता है। जहाँ जप, तप, साधन, संयम, ध्यान धारणा द्वारा आत्मतत्त्व को जानने लगता है। योग द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेता है वहाँ वह समस्त मलों से-सभी प्रकार के दुःखों से-छूटकर निर्मल बनकर कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। वह वीतशोक होकर कृतार्थ हो जाता है। उसे अपने यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है।"

शौनकजी ने पूछा—"स्वरूप उपलब्धि होने पर जीवात्मा का क्या स्वरूप हो जाता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! अब यह बताने की बात नहीं है।

बतायी भी कैसे जायँ। गूँगा पुरुष गुड का स्वाद कैसे बता सकता है ? फिर भी भगवती श्रुति कहती है – निर्वात स्थान में जैसे दीपक की ज्योति सुस्थिर प्रकाशमय-अन्धकार को विनाश करने वाली होती है, वैसे ही ध्यान से परिपक्व योगी आत्मतत्त्व के द्वारा उस ब्रह्मतत्त्व की जो सबसे श्रेष्ठ-उत्तमता की सीमा है, उसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर लेता है। तब वह उन अज अविनाशी परम ध्रुव, समस्त तत्त्वों से परम विशुद्ध परब्रह्म परमात्मा के प्रत्यक्ष दर्शन करके कृतकृत्य बन जाता है। उन परमदेव परमेश्वर को भलीभाँति तत्त्व से जानकर समस्त संसारी पाशों से विमुक्त बन जाता है, वह सभी प्रकार के संसारी बन्धनों से छूट जाता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! जीवात्मा अनादि काल से नाना योनियों में दुःख, शोक-मोह को सहता आया है, ब्रह्मसाक्षात् होने पर उसके समस्त दुःख छूट जाते हैं, या कुछ शेष रह जाते हैं ?"

सूतजी ने कहा—ब्रह्मन् ! अन्धकार तभी तक रहता है, जब तक सूर्योदय न हो, सूर्य के उदय होते ही अन्धकार को लाठी लेकर भगाना नहीं पडता। वह स्वतः ही नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाने पर समस्त अविद्या की ग्रन्थियाँ अपने आप खुल जाती हैं, सभी संशयों का नाश स्वतः ही हो जाता है। संचित तथा क्रियमाण कर्म अपने आप नष्ट हो जाते हैं। अतः उन परमदेव परब्रह्म परमात्मा की ही एकमात्र शरण लेनी चाहिये। वे सर्वान्तर्यामी देव सभी दिशा तथा उपदिशाओं में व्याप्त हैं। वे सबसे पहिले हिरण्यगर्भ-पुरुष रूप में प्रकट होते हैं। प्रलयकाल में वे एकाकी शयन करते रहते हैं। प्रलयकाल जब समाप्त हो जाता है, जब उनकी सृष्टि करने की इच्छा होती है, तो वे स्वयं

ही सृष्टि होने के आदि में हिरण्यगर्भ रूप में—पुरुषावतार रूप में—प्रकट होते हैं, वे परमेश्वर संसार के अणु-परमाणु में बाहर तथा भीतर व्याप्त हैं। वे अब जगतरूप मे विद्यमान हैं भविष्य में भी जब-जब सृष्टि होगी, वे इसी प्रकार प्रकट होते रहेंगे। वे सहस्रमुख हैं। अर्थात् उनके अनन्त मुख हैं। वे जीवों के भीतर रहते हैं और सभी को सब ओर से देखते रहते हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! वे परब्रह्म परमात्मा परमदेव अग्नि में उष्ण रूप से, जल मे शीतरूप से विद्यमान हैं। वे समस्त लोकों में प्रविष्ट होकर सर्वत्र व्याप्त हैं। जो गेहूँ, जौ, चना आदि ओषधियों मे, वट, गूलर, पीपर आदि वनस्पतियों में परिपूर्ण रूप से विद्यमान रहते हैं, उन परमदेव परमात्मा के पादपद्मों में बारम्बार नमस्कार है, नमस्कार है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! इस प्रकार परमात्मा की महिमा कहकर द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ। अब तृतीय अध्याय में जैसे परमात्म प्राप्ति का फल बतावेंगे, उसका वर्णन आगे किया जायगा।"

छप्पय

( १ )

*चिह्न सफलता सकल दिखें तो नहिं घबरावै।*
*पञ्चभूत की शुद्धि योगमय तन है जावै॥*
*जरा रोग नहिं मृत्यु अमर बनि अति सुख पावै।*
*तन लघु वरन प्रसाद अलोलुपता रुज जावै॥*
*स्वर सौष्ठवता गन्ध शुभ, अलप होहिं मलमूत्र जब।*
*योग सिद्धि लच्छन प्रथम, समुझै साधक बढ़त तब॥*

( २ )

कीचड़ में सनि रत्न धुवें तें चमकन लागें।
त्यों सब मलतें रहित जीव के सब दुख भागें॥
जोगी दीप समान आत्म तें ब्रह्म लखावें।
जानि अजन्मा शुद्ध ध्रुवहिं बन्धन कटि जावें॥
सर्व व्याप्त सबतें प्रथम, होइ होइगो अज परम।
सलिल, अनल ओषधि भुवन, व्याप्त देव कूँ नमो नम॥

—o—

इति श्वेताश्वतर उपनिषद् का द्वितीय
अध्याय समाप्त

—o—

# परमात्म प्राप्ति का फल (१)

[ २७५ ]

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभिः। य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदि मृतास्ते भवन्ति ॥*

(श्वे० प्र० उ० ३ प्र० १ मंत्र

छप्पय

जालवान जग ईश सबनि को शासन करता।
करै सृष्टि विस्तार एक भरता सहरता॥
एक, अनामय, रुद्र ईश जग भीतर बाहर।
लेकिन रचना करै पालि सहरै चतुर वर॥
हाथ पैर मुख नेत्र सब, जाईके जगमें फिरें।
नभ भू स्वरगहिं व्याप्त वह, कर पंखनियुत पशु करें॥

मृत्यु क्या है ? अपने को सर्वथा भूल जाना। जीव अपने सच्चे स्वरूप को भूलकर नाना योनियों में भटकता फिरता है।

---

* जो एक जगरूपी जालवान् है, जो अपनी शासन शक्तियों से शासन करता है। निज शासन शक्तियों से समस्त लोकों पर शासन करता है। जो एकाकी ही सृष्टि का विस्तार करता है। ऐसे इस ब्रह्म को जो पुरुष जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

बार-बार जन्मता है, बार-बार मरता है। जब तक विस्मृति बनी रहेगी, यथार्थ स्मृति नहीं आवेगी, तब तक जीव जन्म-मृत्यु के चक्कर से छूट नहीं सकता। सर्वथा स्वच्छ होकर दुपट्टा तानकर सुखपूर्वक सो नहीं सकता। क्योंकि उसके पीछे मृत्यु रूपी सर्पिणी लगी हुई है। वह मृत्यु के भय से भयभीत हुआ तीनों लोकों में भागता फिरता है। कभी स्वर्ग जाता है, कभी नरकों में जाकर वहाँ की यन्त्रणाओं को भोगता है, कभी पृथ्वी पर आकर नाना योनियों में चक्कर लगाता फिरता है। किन्तु यह मृत्यु सर्पिणी इस जीव का पीछा करना छोड़ती नहीं। यदि यह जीव परमात्मा के पैर पकड़ ले, तो यह सर्पिणी लौट जाती है, तब यह जीव निर्भय बन जाता है।

एक बड़ी लड़ाकू स्त्री थी, वह बात बात पर लोगों से लड़ जाती। अपने बलवान् मल्लपति को छोड़कर अन्य किसी से डरती भी नहीं थी। सभी उससे दुखी थे। एक दिन किसी मनुष्य ने किसी बात पर उसे छेड़ दिया, वह उस पर अत्यन्त कुपित हो गयी। चूल्हे में से जलती लकड़ी लेकर वह उसके पीछे भागी। वह मनुष्य भी भयभीत होकर भागा। आगे-आगे मनुष्य भागता जाय, उसके पीछे-पीछे वह चंडी काली हंडी और जलती चेहली लेकर भागती जाय। जो भी उस मुस्टंडी चंडी का विकराल रूप देखें वे ही भयभीत होकर भीतर छिप जायँ, कोई भी उसकी रक्षा करने को आगे न बढ़े। भागते-भागते वह मनुष्य एक मल्लशाला के समीप अकस्मात् पहुँच गया। वहाँ उस चंडी का पति व्यायाम कर रहा था। उस मनुष्य ने दौड़कर उसके पैर पकड़ लिये और आर्त होकर कहा—"मेरी रक्षा करो।"

उस मल्ल ने कहा—"भाई, क्या बात है ?"

वह बोला—"यह चंडी मेरा पीछा कर रही है।"

मल्ल को देखते ही वह चहीं लैयाँ पैयाँ अपने सिर पर रखकर भागी। पीछे लौट गयी।

मल्ल ने कहा—"मुझे तो तुम्हारा पीछा करते कोई भी च मुंडी दिखायी नहीं देती।"

जब उस व्यक्ति ने देखा – यथार्थ में अब मेरा पीछा क नहीं कर रहा है, तो वह निर्भय निश्चिन्त हो गया और व मल्ल के समीप ही सुखपूर्वक सो गया।

यह माया ही चडी है, यह जीव ही उससे भयभीत होक भाग रहा है, सबसे बलवान् मायापति भगवान् की शरण जा पर–उनके पादपद्मों को प्रेम से पकड़ लेने पर–संसारी माय निवृत्त हो जाती है। जीव जन्म-मृत्यु के जाल से सदा के लिं छूट जाता है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह जगत् एक प्रकार का जाल है, विषय ही इसमें अन्न के दाने हैं। जीवरूप पक्षी इन्हें खाने के–भोगने के–लालच से इस जग जजाल में फँस जाते हैं। ये परमात्मा ही जाल बिछाने वाले हैं। इनके सदृश जाल वाला जालवान् कोई दूसरा नहीं ये अकेले ही हैं। इन जाल वाले जगन्नाथ में अनन्त शक्तियाँ हैं। उन अनन्त शक्तियों में से कुछ ईशानी नामक शक्तियाँ हैं। उन शक्तियों द्वारा ये सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्मांडों का शासन करते हैं, सब पर अपना आधिपत्य जमाये रखते हैं। यद्यपि वे अकेले हैं किन्तु अकेले होने पर भी इनमें इतनी शक्ति है, कि समस्त लोकों का अकेले ही पालन करते हैं, समस्त सृष्टि को उत्पन्न करते हैं, उसका विस्तार भी करते हैं। ये सबके स्वामी हैं, जीव इन्हें भूलकर जगत् जाल में फँसता है, जो इसे जानकर इसकी शरण में जाते हैं, तो जैसे पालतू पशु-पक्षी को जाल वाले से कोई भय नहीं रहता। इसी प्रकार

जो इन सर्वेश्वर को जान जाते हैं। अजर-अमर बन जाते हैं। अमृत हो जाते हैं। जैसे जाल वाला मछुआ है जल में मछलियों को फँसाने को जाल डालता है, तो और सब मछलियाँ तो फँस जाती हैं, किन्तु जो जाल डालने वाले के चरणों के समीप होती हैं, वे बच जाती हैं, वे फँसती नहीं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान को क्या लाभ है, जो जाल डालकर जीवों को फँसाते रहते हैं?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"लाभ से आपका अभिप्राय क्या है?"

शौनकजी ने कहा—"लाभ से मेरा अभिप्राय, प्राप्ति, प्रयोजन सिद्धि से है। किसी भी कार्य में मूर्ख भी बिना प्रयोजन के प्रवृत्त नहीं होता। भगवान को जग जाल में फसाने से-जीवों को दुःख देने से-क्या मिल जाता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवान तो आप्त काम हैं, उन्हें किसी प्रयोजन की तो आवश्यकता नहीं। प्राप्ति तो वह करता है, जिस पर जो वस्तु न हो, उसे प्रयत्न करके प्राप्त करे। भगवान् तो पूर्णकाम हैं, उनको कुछ प्राप्त करना ही नहीं। वे स्वार्थरहित हैं। प्रयोजन के बिना ही जैसे बालक खिलौनों से खेलता है। खिलौना के बनाने मे भी आनन्द और उसे फोड देने में भी आनन्द। ऐसे ही भगवान क्रीडा के लिये-कौतुक के लिये-मन बहलाने के लिये जगत् को बनाते, पालते और संहार करते रहते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! बालक तो अज्ञानी है, फिर उसमें खेलने की कामना स्वाभाविक है। भगवान् तो ज्ञानस्वरूप हैं, कामना रहित हैं। उन्हें बैठे ठाले यह कटु खेल क्यों सूझता है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! अब बैठे ठाले भगवान् व करें, वे भी सोते-सोते ऊब जाते हैं। जैसे जो बड़े लोग कामरहि होते हैं। वे शतरंज का खेल खेलते रहते हैं। ऐसे ही भगवा खेल के लिये जगत् को बनाते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"शतरंज आदि खेल भी अकेले तो नह खेले जाते। जिसके साथ खेला जाय ऐसा दूसरा भी तो चाहिये और आप बार बार कहते हैं—'वह एक है, अद्वय है उसको सहायक उपकरण की आवश्यकता नहीं।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! श्रीमान् लोग अपनी श्रीमती के साथ भी तो चौसर शतरंज खेलते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"भगवान् की श्रीमती कौन हैं ?"

सूतजी ने कहा—"उनकी आह्लादिनी शक्ति ही उनकी श्रीमती है।"

शौनकजी ने कहा—"फिर वे एक अद्वय कहाँ रहे ? बहू दुलहा दो तो हो गये।"

हँसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! जिस बात का आपको अनुभव नहीं, उसमें व्यर्थ हस्तक्षेप क्यों करते हैं ? आपने विवाह तो किया नहीं। आप क्या जानें बहू दुलहा दो होते हैं। भगवन्! बहू और दुलहा परस्पर में एक दूसरे के पूरक होते हैं। वे दो न होकर एक ही कहलाते हैं। इसीलिये स्त्री को अर्धाङ्गिनी कहते हैं। वह पुरुष का आधा अङ्ग ही है। जिन शिवजी की आप पूजा करते हैं, वे अर्धनारी नटेश्वर कहलाते हैं। एक होने पर भी उनका आधा अङ्ग नारी है, आधा अङ्ग नर है। रथ में दो पहिये होते हैं, फिर भी रथ एक ही कहाता है। पक्षी के दो पंख होते हैं फिर भी एक ही कहा जाता है। शक्ति और शक्तिवान दो होने पर भी एक हैं। वे जगत् को क्रीड़ास्थली बनाकर मन-

विनोद के लिये क्रीड़ा किया करते हैं, अतः जैसे शक्तिवान्, शक्ति और क्रीडा के उपकरण ये खेल के लिये अनादि हैं,ऐसे ही ईश्वर, जीव, जगत् ये अनादि हैं उनकी क्रीडा भी अनादि है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी! जब कोई सिद्धान्त की बात आती है, तो आप पेसलपरवी कर देते हो। कभी कह देते हो, एकही अद्वैत है, कभी कह देते हो तीनों अनादि हैं। स्पष्ट करके बताइये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आप सब जानते हैं। लोक के हितार्थ अज्ञों को भाँति प्रश्न कर दिया करते हैं। इससे अधिक मैं स्पष्ट कुछ नहीं कर सकता। जिसे शंका हो, वह अर्धनारी नटेश्वर की शरण में जाय, सर्वभाव से उन्हीं के अधीन हो जाय। उन्हीं के प्रसाद से-उन्हीं की कृपा से-उसकी समस्त शंकाओं का समाधान हो जायगा। उसे परम शांति की तथा शाश्वत स्थान की प्राप्ति हो जायगी। उस जाल वाले जालवान् जगदीश्वर के जाल की ओर ध्यान न देकर उनके चरणों के समीप जम जाओ फिर यह जगजाल जाल तुम्हारा कुछ भी न बिगाड़ सकेगा। उस जगदीश्वर के अनन्त आँखें हैं, वह सर्वत्र सबको देखता है। उसके अनन्त मुख हैं, समस्त मुख उसी के हैं। उसकी अनन्त बाहुएँ हैं। जिन बाहुओं को देखो, उनकी ही बाहु जानो। उसके अनन्त पैर हैं। वह सब स्थानों मे पैर वाला है। वह पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा स्वर्ग सभी की सृष्टि करने वाला है, सभी उसी के बनाये हुए हैं। उसने ही दो दो हाथ पैर वाले मनुष्यों को बनाया है, उसी ने पख वाले पक्षी पतगों को बनाया है। उसी ने रुद्र, इन्द्र, वरुण तथा कुबेरादि देवताओं को बनाया है। वही सबको बनाता है, बनाकर सबको बढ़ाता है। वह सबका स्वामी है, ईश है, अधिपति है। वही ज्ञानी,ब्रह्मर्षि, महर्षि

है। उसी ने सृष्टि के आदि में हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया था। वह देवाधिदेव परमदेव महादेव हमें शुभ बुद्धि से संयुक्त करें। जिससे हम उसकी सृष्टि के और उसके यथार्थ रहस्य को जान सकें। उन्हीं त्रिनेत्र महादेव भोलानाथ शंकर से प्रार्थना करो कि—हे रुद्रदेव ! आपको सब लोग घोर कहते हैं, किन्तु वास्तव में आप अघोर हैं। आपकी मूर्ति भयानकता रहित है, सौम्य है, सरल है, सरस है, शुभ है। अपाय प्रकाशिनी है, पुण्य द्वारा प्रकाशित है। आपकी मूर्ति शिवा है, कल्याणमयी है। हे गिरिजापति ! हे गिरिशन्त ! हे गिरि पर रहकर शं-कल्याण-का विस्तार करने वाले देवाधिदेव शिव ! अपनी उस परम शान्ति मङ्गलमयी मधुर मनोहर मूर्ति से हम लोगों की ओर दृष्टिपात करो। हमें दयार्द्र होकर देखो।

हे गिरिशन्त ! हे पहाड़ के ऊपर रहते हुए भी सम्पूर्ण संसार में शान्ति का विस्तार करने वाले विश्वम्भर ! तुम पिनाक नामक बाण पर चढ़ाने के लिये जिस बाण को संहार के लिये हाथ में लिये हुए हो। हे गिरिजेश ! हे गिरित्र ! उस बाण को शिवा को कल्याणमयी पार्वती को दे दो। वे जगन्माता कल्याणमयी हैं, वात्सल्यमयी हैं, वे उस संहारक बाण को कल्याणमय बना देंगी। इस प्रकार हाथ के उस बाण को कल्याणमय बनाकर जगत् के समस्त जीवों की विश्व के सभी पुरुषों की रक्षा करो। उन्हें कष्ट मत पहुँचाओ, उनकी हिंसा मत करो।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार जगत् का और जगदीश्वर का रहस्य जानने के लिये उन्हीं कल्याणस्वरूप अर्धनारी नटेश्वर महादेव की शरण में जाना चाहिये। उन्हीं की स्तुति प्रार्थना करनी चाहिये। तब वे परात्पर प्रभु परब्रह्म परमात्मा समस्त प्राणियों में 'उन-उन' प्राणियों के अनुरूप बनकर

समस्त प्राणियों में गूढ़ रूप से छिपे हुए तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के बाहर-भीतर, दायें बायें सब ओर से घेरे हुए हैं, ऐसे वे सर्वान्तर्यामी प्रभु हैं जो महान् हैं, सर्वव्यापक हैं, एक हैं, ईश हैं, सबके स्वामी हैं वे तुम्हें बुद्धियोग देंगे। जिससे तुम उन्हें जान जाओगे। उन परमेश्वर को जो पुरुष जान जाते हैं, वे अमृत हो जाते हैं। मृत्यु उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। वे मृत्यु से परे अजर-अमर हो जाते हैं। वे जन्म-मरण के जाल से सदा के लिये निकल जाते हैं। फिर उनका कभी जन्म नहीं होता। जब जन्म ही नहीं, तब मृत्यु का प्रश्न ही नहीं।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! अब आगे इसी विषय को और स्पष्ट रूप से बतावेंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

(१)

*विश्वाधिप रुद्रादि सर्वविद हिरण्यगरभ मज।*
*करें बुद्धि मम शुद्ध प्रभव उद्भव कारन अज॥*
*रुद्र! अघोरा मूर्ति तुम्हारी पुण्य प्रकाशित।*
*शान्तिमयी गिरिशन्त! मूर्ति तैं लखैं हमहिँ इत॥*
*हे गिरिशन्त! धरो शरहिँ, जिहि कर फेंकन के निमित।*
*करो ताहि कल्यानमय, जगकी हिंसा करहु मत॥*

(२)

*जो हैं जगतैं परे ब्रह्म-पर सब भूतनि महँ—*
*निबसें तनु अनुरूप गूढ़ सम्पूरण जगतमहँ॥*
*घेरें चारिहु ओर जगत कूँ एक ईश वर।*
*ज्ञानी जन जिनि जानि अमृत होवें ज्ञाता नर॥*
*अन्धकार तैं रहित जो, महापुरुष जानूँ तिनहिँ।*
*जानि मृत्यु तरि सहज नर, तिनि बिनु पथ है अन्य नहिँ॥*

# परमात्मा और उनकी प्राप्ति का फल (२)

[ २७६ ]

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो ज्यायोऽस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥*

(श्वे० म० उ० ३ म० ६ श्लो

छप्पय

*जिनितैं है नहिँ श्रेष्ठ दूसरो कोई जग में।*
*सूच्छम और महान् सरिस है नहिँ त्रिभुवन में॥*
*जो तरुवर के सरिस प्रकाशित जग में इस्थित।*
*पुरुषोत्तम तैं सकल जगत है पूरन व्यापत॥*
*हिरणगरभ तैं श्रेष्ठ अति, निराकार नित अनामय।*
*अमृत होहिँ नर जानि तिनि, शेष दुःख पावैं सभय॥*

संसार में कोई कहता है परमात्मा है, कोई कहता है नहीं

---

* जिससे परे दूसरा कुछ है ही नहीं। जिससे अधिक संसार में न तो कोई सूक्ष्म ही है, अर्थात् वह सूक्ष्म से भी अत्यन्त सूक्ष्म है और जिससे अधिक कोई वृहत् भी नहीं। वह एकाकी ही वृहद् वृक्ष के सदृश आकाश में निश्चल भाव से खड़ा रहता है। उसी परम पुरुष से सम्पूर्ण जगत परिपूर्ण है।

है। चाहें है कहो या नहीं है कहो, दोनों ही बातों से परमात्मा का अस्तित्व तो स्वीकार हो ही जाता है। निषेध उसी वस्तु का किया जाता है, जिसका कहीं न कहीं, कभी न कभी अस्तित्व रहा हो। हम किसी घर में जाकर पूछें—"क्यों जी यहाँ देवदत्त है ?" तो दूसरा कहेगा—"जी यहाँ देवदत्त नहीं है।" दूसरा पूछेगा—"कहाँ गया ? कहा पर मिलेगा ?" तो वह या तो यह कहेगा अमुक स्थान पर गया है, वहाँ मिलेगा। या कहेगा मुझे मालूम नहीं कहाँ गया है।" तो चाहें है कहो या नहीं है कहो, दोनों मे ईश्वर की सत्ता तो सिद्ध हो ही जाती है। हम पूछते हैं—"आम पर फूल है ?" दूसरा उत्तर देगा "है।" फिर पूछते हैं—"गूलर पर फूल है ?" वह कहेगा-"गूलर पर फूल नही है।" तो चाहें गूलर में फूल दिखाई न दे, फिर भी फूल का अस्तित्व तो माना ही जायगा। दीखता नहीं है यह दूसरी बात है।

इसलिये जिन्होंने बहुत प्रयत्न किया, फिर भी उनको ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हुआ, तो वे कह देते हैं—"ईश्वर नहीं है, तो उनका अनुभव भी यथार्थ ही है।

इसके विपरीत कोई दूसरा साधक है, उसने जप, ध्यान तथा तप आदि से ईश्वर का साक्षात्कार कर लिया है-तो वह कह देता है—"ईश्वर है।"

जिन्होंने साधनो द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार किया है उन ऋषि महर्षियों के अनुभव को सुनिये।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जिन ज्ञानी महापुरुषों ने परमात्मा का साक्षात्कार कर लिया है, वे अपने अनुभव को बताते हुए कहते हैं—"मैं उस परब्रह्म परमात्मा को जानता हूँ, मैंने उसे देखा है, उसका साक्षात्कार किया है।' अच्छा बताइये वह कैसा है ?"सुनो, उसमें तम अंधकार नहीं। अर्थात् वह अविद्या

से सर्वथा रहित है।" उसका वर्ण कैसा है ? सूर्य के सदृश प्रकाश स्वरूप है। वह प्रकाश उसे अन्य किसी से प्राप्त नहीं होता, वह स्वयं ही प्रकाश स्वरूप है और महान् है। उससे बड़ा या उसके बराबर प्रकाशवान कोई नहीं है। संसार में जो सूर्य, चन्द्र, अग्नि, नक्षत्र, तारागण तथा जुगनू आदि जितने प्रकाश वाले हैं, उन सबको प्रकाश उसी से प्राप्त होता है। वह समस्त प्रकाशों का उद्गम स्थान है। जब तक जीव उससे भिन्न रहता है, उसे जानता नहीं, तब तक वह जन्म मृत्यु के चक्कर में घूमता रहता है। जहाँ उसका ज्ञान हुआ, जहाँ उसका साक्षात्कार हो गया, तहाँ वह जीव मृत्यु को तर जाता है, मृत्यु के पार पहुँच जाता है। अर्थात् वह अजर अमर बन जाता है तब वह परमपद तक पहुँच जाता है। तुम चाहो उसे प्राप्त किये बिना ही हम किसी दूसरे मार्ग से परमपद तक पहुँच जायँ, तो आपका यह प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि परमपद की प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं ही नहीं। एक ही मार्ग द्वारा परमपद प्राप्त हो सकता है, वह मार्ग है परमात्मा का साक्षात्कार। आप चाहें जितने भी साधन करो, साधन अनेक हैं, उसके घर तक जाने के मार्ग बहुत हैं, किन्तु परमपद तक अन्तिम प्राप्य स्थान तक पहुँचने का द्वार एक ही है। वह द्वार है ब्रह्म साक्षात्कार। ब्रह्म साक्षात्कार किये बिना कोई परमपद तक नहीं पहुँच सकता।"

शौनकजी ने पूछा—"परम पद और परमात्मा दो हैं क्या ?"

सूतजी ने कहा—"एक के ही अनेक नाम हैं। जैसे राजा कहो, नृपति कहो, भूप कहो, नराधिप कहो या उस राजा का नाम चन्द्रशेखर कहो, सब एक ही बात है। आप कहें—महाराजा चन्द्रशेखर के पास जाये आपको राजा के दर्शन

हो सकते। आप चन्द्रशेखर पूछते पूछते चले जाओ। चन्द्रशेखर ही राजा है। चन्द्रशेखर के मिलते ही राजा मिल जायगा। वह परमात्मा कैसा है ? वह सबसे श्रेष्ठ है, उससे श्रेष्ठ ससार में कोई और है हा नहा। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म छोटे से भी छोटा है। उससे छोटा भी कोई नहीं है। वह महान् से भी महान है, उससे महान तो कोई है ही नही, उसकी बराबरी का भी कोई और नहीं है। जिस वृक्ष की जड तो ऊपर आकाश में हो और शाखायें पृथ्वी तक फैली हो, ऐसा जैसे कोई वृक्ष सम्पूर्ण आकाश में फैला हो, वैसे ही महान् वृक्ष के समान् वह अकेला ही इस सम्पूर्ण जगत् को घेरे हुए आकाश मे परम प्रकाशमय होकर स्थित है। अर्थात् यह सम्पूण ससार उसी से परिपूर्ण है, उसी से व्याप्त है।

सृष्टि के आदि मे प्रथमावतार हिरण्यगर्भ का होता है, उसी हिरण्यगर्भ पुरुष से सम्पूर्ण चराचर सृष्टि उत्पन्न होती है। वह परब्रह्म परमात्मा महापुरुष उससे भी उत्कृष्ट है–उत्तर तम है–वह अरूप है–उसका कोई एक रूप नहीं है–उसमे अभय-दोषों– का लवलेश भी नहीं, वह सर्वथा अनामय है। जो इसे जान लेते हैं, वे जीव अमर हो जाते हैं, जन्म मृत्यु के जाल से छूटकर मुक्त बन जाते हैं, जो उसे जान नहीं पाते वे जन्म मृत्यु की चक्की मे पिसते रहते हैं। बार-बार जन्म और मरण के दुःखों से दुखी बने रहते हैं।

वह सब ओर से सबको देखता रहता है, क्योंकि उसके सभी ओर मुख हैं, सभी ओर ग्रीवायें हैं। उसकी दृष्टि से छोटे से छोटा और बडे से बडा कोई भी जीव ओझल नहीं हो सकता। वह सर्वद्रष्टा है। जितने भी प्राणी हैं उन सभी की हृदय रूपी गुफा में वह पलङ्ग बिछाकर सोता रहता है।" - क्रः

शौनकजी ने कहा—"सोता ही क्यों रहता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! सोने में बड़ा सुख मिलता है, किन्तु हम संसारी लोगों की निद्रा तमोगुण जन्य है, अतः उसमें पूर्ण सुख नहीं होता। परमात्मा की निद्रा योग-निद्रा है। वह गुणातीत निद्रा है। उसमें परम सुख है। इसलिये सोते रहने का अर्थ यह है, कि वह सबके हृदयों में बैठा केवल सुख की ही अनुभूति करता है। जीव के दुःखों के साथ वह दुखी नहीं होता। वह सदा सर्वदा परमानन्द में मग्न रहता है। मग्न क्या रहता है वह परमानन्द स्वरूप ही है। वह शिव स्वरूप है, कल्याण-मय है, सर्वव्यापी तथा सर्वगत है वह महान् है, प्रभु है, ईशान है, अव्यय है, ज्योति स्वरूप है, परम पुरुष है। जो उसे प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें प्राप्त करके निर्मल लाभ लेना चाहते हैं, ऐसे सुकृति साधकों के अन्तःकरण को वे उस ओर प्रेरित करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! वे परब्रह्म परमात्मा प्राणियों के हृदयों में किस रूप से रहते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! नाम रूप रहित सर्वेश्वर के सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जाता। अँगूठा के पोर के सदृश हृदय के आकार जैसे आकार वाले प्रकाश स्वरूप वे परम पुरुष पर-मात्मा अन्तर्यामी रूप से सदा सर्वदा प्राणियों के हृदय देश में निवास करते हैं। यद्यपि वहाँ मन भी रहता है, जीव भी रहता है, किन्तु ये मन के, जीव के सभी के स्वामी हैं। सब इनकी आज्ञानुसार ही कार्य किया करते हैं। जो पुरुष निर्मल हृदय वाले होते हैं और निरन्तर उन्हीं के ध्यान में संलग्न रहते हैं, वे ही उन अन्तर्यामी अनादि अनंत अनामय अखिलेश्वर को जान सकते हैं। उन्हें जान लेने पर जानने के लिये फिर कुछ भी

अवशेष नहीं रह जाता। जो पुरुष सत्य, ब्रह्मचर्य, तपस्या, मौनादि साधनों को करते-करते उन्हीं की कृपा से उन्हें जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं। जन्म-मरण के बन्धनों से छूटकर अमर बन जाते हैं।

उनका कोई एक सिर नहीं। उनके सहस्रों सिर हैं, अर्थात् संसार में समस्त सिर वाले प्राणियों के जितने सिर हैं, वे सभी उन्हीं के सिर हैं, यद्यपि वे चर्म चक्षुओं से रहित हैं, तथापि संसार में जितने भी चक्षुवान् जीव-जन्तु हैं। उन सब की आँखें उन्हीं की आँखें हैं, वे अनन्त आँखों वाले हैं। यद्यपि उनके ये लौकिक पैर नहीं, तथापि जितने भी पदचारी जन्तु हैं उन सबके सहस्रों असख्यों पैर उन्हीं के पैर हैं। वे अपने तेज से-प्रकाश से-आभा प्रतिभा तथा शासन से सम्पूर्ण जगत् को सब ओर से घेरे हुए हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! जैसे एक सम्राट् है, उसका पूरे भूमंडल पर शासन है, सर्वत्र वह अपने तेज द्वारा-शासन द्वारा-पृथ्वी पर व्याप्त है, फिर भी उसके रहन का एक स्थान होता है, उसके निवास करने का महल होता है। जैसे दीपक है, उसका प्रकाश पूरे भवन में व्याप्त होता है, फिर भी दीपक किसी एक स्थान में-दीप स्थल में रहता है। उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् को सब ओर से घेरे हुए इस परब्रह्म का रहने का भी तो कोई स्थान होगा ही?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! बता तो दिया। पुरुष अपनी नाभि से दस अंगुल ऊपर नाप ले, दश अंगुल से ऊपर-जो अँगूठा के नाप का हृदय है, उस हृदय में जो आकाश है वहीं वह रहता है। लेट लगाते हुए सुख पूर्वक निश्चिन्त होकर सोता रहता है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! भगवान् को रहने का अन्यत्र स्थान नहीं मिला था क्या ? जो इतने छिपकर हृदय गुफा के आकाश में जाकर सोया है। कौन हृदय को फा फाड़ने पर मांस के लोथड़े के रूप में अँगूठा के सदृश ह तो मिल जायगा। उस हृदय की गुफा के आकाश में वि परमात्मा कैसे दीखे ? जब बाहर का आकाश ही दिखाई देता तब हृदय की गुफा का आकाश कैसे दीखेगा, फिर आकाश में छिपा बैठा परब्रह्म किस दूर वीक्षण यन्त्र से दिखा देगा ?"

सूतजी ने कहा—"दूर वीक्षण यन्त्र की आवश्यकता ही क है। वह तो निकट से भी अत्यंत निकट है। वह इन चर्म-चक्षु से दिखाई नहीं देता। यदि चर्म चक्षुओं से ही देखना चाहते तो यह जो बाह्य जगत् है, जो बन चुका है, आगे बनने वाल भी है। जो अन्न खा-खाकर बढ़ता रहता है, आज कल भं बड़ी तीव्रता से बढ़ रहा है। परिवार नियोजन करने पर भी ज घटने का नाम नहीं लेता। उस सम्पूर्ण जगत् को तुम परमात्म का स्वरूप ही जानों। वह सब उस ब्रह्म का ही साकार स्वरूप है, जो ब्रह्म अमृत स्वरूप-मोक्ष का स्वामी है। उसके सब स्थानों में हाथ पैर हैं। जिस हाथ पैर को देखो, समझ लो ये ब्रह्म के ही हाथ पैर हैं। उसके सब स्थानों में आँख, सिर, और मुख हैं। संसार में जिसकी आँखों को देखो, जिसके सिर तथा मुख को देखो यही समझ लो ये ब्रह्म के ही आँख, सिर, तथा मुख हैं। संसार में जितने भी कान हैं सब उसी के कान हैं, जहाँ भी तुम्हें कान दीख पड़े तुम निश्चय समझलो ये ब्रह्म के ही कान हैं। कारण कि वह सम्पूर्ण संसार को सब ओर से घेरकर बैठा हुआ है। अणु परमाणु भी उसकी परिधि से बाहर नहीं रह सकते। अतः

सम्पूर्ण चराचर जगत् ब्रह्म का ही साकार रूप है, निराकार रूप से हृदय में रहते हैं, सर्वव्यापक रूप से सब में व्याप्त रहते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"तो वे साकार हैं या निराकार। निराकार हैं, तो साकार जीवों की बातों को कैसे जानते होंगे। यदि साकार हैं तो उनका भी जन्म मरण होना चाहिये।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! वे विरुद्ध धर्माश्रयी हैं। साकार भी हैं, निराकार भी हैं। न साकार हैं न निराकार।"

शौनकजी ने कहा—"तब शून्य होंगे ?"

सूतजी ने कहा—"शून्य भी नहीं।"

शौनकजी ने कहा—"तब कैसे हैं ?"

सूतजी ने कहा—"जैसे भी हैं तैसे ही हैं। श्रुति विरुद्ध धर्माश्रयी रूप में जैसे वर्णन करेगी, उसे मैं आगे बताऊँगा।"

छप्पय— ( १ )

*जिनके मुख, सिर ग्रीव दिशनि सबहिँनि कहलावें।*
*सब भूतनि हिय गुफा माहिँ सोवें हरषावें॥*
*सब वस्तुनि महँ व्याप्त सर्वगत शिव शंकर हर।*
*अव्यय, ईश, महान् ज्योति प्रभु लीला सुखकर॥*
*जो प्रपन्न तिनि कल्पतरु, प्राप्ति हेतु प्रेरित करत।*
*अन्तरयामी पुरुष-पर, नित्य जननि के हिय बसत॥*

( २ )

*कहलावें अंगुष्ठ मात्र जो मन के स्वामी।*
*शुद्ध हृदय तैं मिलैं अखिलपति अन्तरयामी॥*
*अमृत होहिँ जिनि जानि सहस सिर धारें देवा।*
*सहस आँखि अरु पैर कौन जाने जिह भेवा॥*
*सब लोकनि कूँ व्याप्त करि, बैठे हृदय प्रदेश में।*
*जो दश अंगुल नाभि तैं, ऊपर अंगुठ वैष में॥*

छप्पय

( ३ )

जो जग है जो भयो होइगो सबहिँ पुरुष है।
खाइ खाइ जो अन्न राति दिन निरय बढ़त है॥
सबहिँ ब्रह्ममय जानि मोक्ष को स्वामी जो है।
हाथ, पैर, सिर, आँखि कान मुख सबई सो है॥
सब ग्वाई के अंग हैं, सबई में वह व्याप्त है।
सबनि घेरि बैठ्यो वही, यत्र तत्र सरवत्र है॥

# परमात्मा और उनकी प्राप्ति का फल (३)

( २७७ )

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥*

(श्वे० म० उ० ३ म० १७ म०)

छप्पय

*सब इन्द्रिनि तें रहित विषय परि सबके जानें ।*
*सबके स्वामी ईश बृहद सब आश्रय मानें ॥*
*नौ द्वारनि की पुरी देह हिय देही निवसत ।*
*सबहिं चराचर लोक हृय भीतर ही विहरत ॥*
*बाहिर हू लीला करें, नहीं पैर तोऊ चलत ।*
*बिनु कर, चक्षुहु, कान के, करम करत देखत सुनत ॥*

जो लोग कहते हैं—"भगवान् निराकार हैं, उनकी मूर्ति नहीं, शरीर नहीं, वे कभी साकार हो ही नहीं सकते। उनका कभी अवतार लेना सम्भव ही नहीं। वे परमात्मा को भी मानवीय धाराओं के अन्तर्गत बाँधना चाहते हैं। वे इस बात को स्वीकार

---

* वे परब्रह्म परमात्मा सभी इन्द्रियों के विषयों की जानकारी रखते हैं, यद्यपि वे इन्द्रियातीत हैं—सभी इन्द्रियों से रहित हैं। प्रभु हैं। सबके शासन कर्ता हैं। वे संसार में सबसे श्रेष्ठ और सभी के एकमात्र आश्रय हैं। शरण हैं।

नहीं करते कि भगवान् सब कुछ करने में समर्थ हैं। वे तर्क देते हैं, कि सब कुछ करने में समर्थ हैं, तो डाकू बनकर लूट भी सकते हैं? व्यभिचार भी कर सकते हैं? असत्य भी बोल सकते हैं!" उनके मत में भगवान् सर्व शक्तिवान् होने पर भी अच्छे ही काम करने में स्वतन्त्र हैं, बुरे काम करने में वे परतन्त्र हैं। किन्तु हमारे वेद पुराण ऐसा नहीं मानते।

भगवान् विरुद्ध धर्माश्रयी हैं। वे सब कुछ करने में समर्थ हैं। वे निराकार भी हैं, साकार भी हैं। निर्गुण भी हैं, सगुण भी हैं। छोटे-से-छोटे हैं, बड़े-से-बड़े हैं। उनके लिये कोई विधि नहीं, कोई निषेध नहीं। जब ज्ञानी पुरुष अहंकार से रहित होकर समस्त लोकों की हत्या करने पर उसके पाप से लिप्त नहीं होते, तो परमात्मा के लिये क्या पाप क्या पुण्य, वे सब कुछ करने में स्वतन्त्र हैं। अर्जुन जब श्रीकृष्ण की पत्नियों को लेकर हस्तिनापुर आ रहे थे, तो भगवान् ने ही गोपों का वेष रखकर उन्हें लूट लिया था, नहीं तो भगवान् की पत्नियों को जंगली अहीरों में इतनी सामर्थ्य कहाँ जो लूट सकें। जब जालन्धर दैत्य अपनी पत्नी के पातिव्रत के ही प्रभाव से किसी से मारा नहीं जा सकता था, तो भगवान् ने छल करके—जालन्धर का रूप बनाकर उसकी पत्नी वृन्दा का पातिव्रत भंग किया था। जब असुर वेद पढ़ने लगे, हवन करने लगे, दान देने लगे तो भगवान् ने ही दंडी स्वामी का वेष बनाकर उन्हें उलटी पट्टी पढ़ाई। उनके सम्मुख वेद, यज्ञ, दान, व्रत की निन्दा करके उन्हें वेद विमुख बनाया। जब लोग जिह्वा लोलुपता के लिये यज्ञों के नाम पर पापाचार करने लगे—मनमानी जीव हिंसा करने लगे, तब भगवान् ने ही बुद्ध का अवतार लेकर लोगों को यज्ञ में हिंसा न करने का उपदेश दिया। वेदों तक का खंडन किया। इसलिये भगवान् कर्तुं

अकर्तुं अन्यथा कर्तुं सभी कुछ करने में समर्थ हैं। वे विरुद्ध धर्माश्रयी हैं। अग्नि जल का साथ रख सकते हैं। तम और प्रकाश को साथ ही साथ स्थापित कर सकते हैं। उनके लिये कर्तव्य-अकर्तव्य, विधि-निषेध, सम्भव-असम्भव, कुछ भी नहीं है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान निराकार हैं, वे अतेन्द्रिय हैं, इन्द्रियों से अतीत हैं। फिर भी इन्द्रियों के जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श विषय हैं उनका उपभोग करते हैं, उनके स्वादों से पूर्णरीत्या परिचित हैं, वे निर्गुण निराकार होने पर भी सगुण साकार बनकर सब पर शासन करते हैं। सब पर प्रभुत्व स्थापित किये रहते हैं, सबसे बडे बन जाते हैं। जो सगुण साकार पुरुष हैं, उनकी एकमात्र शरण वे ही हैं। वे शरणागत वत्सल हैं। प्रपन्न पारिजात हैं। पुरुषों को सर्वतोभाव से उन्हीं सर्वेश्वर की शरण में जाना चाहिये।"

वास्तव में तो वे ही प्रभु अनेक रूप रखकर नाना भाँति की लीलायें कर रहे हैं। वे इस चराचर जगत् को अपने वश में रख कर स्थावर तथा जंगम जीवों से जो चाहें सो कराते रहते हैं। उनकी इच्छा के बिना संसार में एक पत्ता भी नहीं हिलता। यह जो नौ द्वारों वाला पुरुषों का शरीर रूप नगर है, उसके मध्य में हंस रूप से-देही बनकर-वे बैठे हुए हैं। सबके हृदय प्रदेश में विराजकर सबको प्रेरित करते रहते हैं। भीतर अन्तर्यामी रूप से सोते रहते हैं। बाहर पुरुष रूप से भाँति-भाँति के खेल करते रहते हैं। नाना प्रकार की ललित लीलायें करते रहते हैं।

यद्यपि उनके हम मनुष्यों जैसे हाथ नहीं हैं फिर भी सदा उठाते पटकते रहते हैं। इधर की वस्तुओं को इधर और इधर की वस्तुओं को उधर करते रहते हैं। यद्यपि उनके मनुष्यों जैसे

पैर नहीं हैं, फिर भी बिना पैरों के ही ऐसे दौड़ते हैं, कि उन्हें कोई पकड़ नहीं सकता। यद्यपि उनके हमारे जैसे रक्त मांस के चक्षु तथा श्रोत नहीं फिर भी वे सब ओर सब वस्तुओं को देख सकते हैं, सब कुछ सुन सकते हैं। चाहें कोई कहीं भी किसी स्थानों में भी छोटे-से-छोटे स्वर में बोले—वे फट सुन लेते हैं। चींटी अपने पैर में घुँघुरू बाँधकर नाँचे तो भगवान् उसके नाच पर ताल देने लगते हैं। संसार में जानने योग्य जो भी वस्तु हैं, जो भी पदार्थ हैं, वे उन सबको भली प्रकार जानते हैं। किन्तु उन्हें यथार्थ रूप से जानने वाला कोई नहीं हैं। कोई विरला ही उन्हें यत् किंचित जान सकता है। इसीलिये बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, ज्ञानी, ध्यानी उन्हें आदि पुरुष, महतो महीयान–महान् से भी महान्–कहते हैं।"

वे संसार में जो सबसे छोटा अणु है उस अणु से भी बहुत छोटे हैं, और जो महान् से महान् महत्तत्त्व प्रकृति है उससे भी वे महान् हैं। वे इस जीव की हृदय रूपी गुफा में छिपे हुए बैठे रहते हैं। छिपकर क्यों बैठे रहते हैं? बड़े संकोची है, नव वधू के सदृश लज्जावान् हैं, इसलिए छिपकर-दुबककर–एकान्त में सोते रहते हैं।

इतने छिपे हुए को जीवात्मा कैसे पा सकता है? जीवात्मा अपने पुरुषार्थ से उसे थोड़े ही पा सकता है। अपने आप कोई उसका भेद थोड़े ही पा सकता है। जिसे वह अपने को जनाना चाहता है, उसे जना देता है, जिसके सम्मुख प्रकट होना चाहता है, उसके सम्मुख प्रकट हो जाता है। उस विधाता को उसी की कृपा से जीव प्राप्त कर सकता है। वह स्वयं संकल्प रहित है, परम ईश्वर है, जिसे वह दिखाना चाहे, वही उसकी महिमा को देख सकता है। उसे देख लेने पर जीव वीतशोक-सभी प्रकार के

शोक, मोह, दुःख, दुरितों से रहित हो जाता है। उसे देखकर जीव कृतार्थ हो जाता है, वह मनुष्य जीवन का परम फल पाकर कृतकृत्य बन जाता है।

सूतजी कह रहे हैं—मुनियो! इस प्रकार वेदवादी आस्तिक ज्ञाना महापुरुष भगवान् की महिमा बताकर अन्त में कहते हैं—"जिसका जन्म नहीं, जिसे वेदवादी नित्य शाश्वत बतलाते हैं, जो विभु है, सर्वगत है, सभी स्थानों में सदा सर्वदा विद्यमान रहता है, जा सबकी आत्मा है, जो कभी बूढ़ा नहीं होता—कभी मरता भी नहीं, जो बहुत ही पुराना है, जिसका आदि नहीं अनादि है, उस परब्रह्म परमात्मा को मैं जानता हूँ।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार इस तृतीयाध्याय मे परमात्मा के सम्बन्ध में तथा उनकी प्राप्ति के सम्बन्ध में बताया गया। अब चतुर्थ अध्याय मे जैसे उनको स्तुति करके जगत् का रूप बताया है और भगवान् की जो दो अनादि प्रकृतियाँ हैं उनका जैसे स्वरूप बताया है, उन सबका वर्णन मैं आगे करूँगा। द्वैतवादियों की ये ही श्रुतियाँ आधार हैं। अद्वैतवादी इन्हें व्यावहारिक गौण मानते हैं। हम तो व्यवहार परमार्थ गौण मुख्य सब उन्हीं परमात्मा की लीला मानते हैं। वे द्वैत भी हैं, अद्वैत भी हैं, व्यवहार भी वे ही हैं, परमार्थ भी वे ही हैं। जगत् भी वे हैं, जीव भी वे हैं और पुरुषोत्तम भी वे ही हैं। दृश्य भी वे ही हैं, द्रष्टा भी वे हैं, सब कुछ वे हैं, उनके बिना कुछ भी नहीं।"

छप्पय

( १ )

है जो जानन जोग्य ताहि सबई कूँ जानत।
है जो मानन जोग्य ताहि सबई कूँ मानत॥
ताहि न जानै कोइ कहैं सब ऋषि मुनि ज्ञानी।
परमेश्वर पर पुरुष महत्तम अलख अमानी॥
है महान तैं महत्तम, परम सूक्ष्म तैं सूक्ष्म वह।
हृदय गुफा में जीव की, छिपिकें बैठ्यो देव यह॥

( २ )

कैसे तिनिकूँ पाइ छिपे एकान्त गुफा में।
पहुँच तहाँ तक नहीं जीव जावै कस तामें॥
किरपा जापै करें दरस ताकूँ वे देवें।
ईश कल्पना रहित शरन अपनी में लेवें॥
जिनि पै उनकी दया हो, वे महिमा उनकी लखैं।
सब दुःखनितैं छूटिकें, अमृत दिव्य ते नर चखैं॥

( ३ )

ब्रह्मनिष्ठ वेदज्ञ बतावें जनम न जाको।
जो अनादि अखिलेश जीव है चेरो ताको॥
सर्वात्मा सरबत्र रहें विभु व्यापक स्वामी।
अजर अमर अखिलेश अनामय अन्तरजामी॥
जो पुराण परमात्म प्रभु, परमेश्वर अज अखिलपति।
मैं तिनिकूँ जानूँ कृपा-वही करें तब होइ मति॥

—o—

इति श्वेताश्वतर उपनिषद् का तृतीय
अध्याय समाप्त

—:—

# जगदीश्वर स्तुति

[ २७८ ]

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति । वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥*

(श्वे० अ० उ० ४ अ० १ म०)

छप्पय

*जो अवर्ण निहितार्थ विविध शक्तिनि सम्बन्धित ।*
*हैकें वर्ण अनेक धरें या जग प्रपञ्च हित ॥*
*सृष्टि हेतु सब करें बनावें वे जग कर्ता ।*
*पालें पुनि बनि जायँ अन्त में वे संहर्ता ॥*
*जिनितैं जग होवै सकल, पुनि जिनमें ही घुसत है ।*
*देव एक वे बुद्धि कूं, शुद्ध करैं यह विनय है ॥*

परमात्मा अपनी शक्तियों द्वारा जीव और प्रकृति द्वारा इस जगत का निर्माण करते हैं। जग निर्माण के निमित्त उन्हें

---

* जो एक है, अवर्ण है, अपने प्रयोजन वश छिपे हुए अर्थ वाला है, विविध शक्तियों के संयोग से अवर्ण होने पर भी सृष्टि काल मे बहुत वर्णों को धारण कर लेता है और अन्त मे यह सम्पूर्ण विश्व उसी मे समा जाता है विलीन हो जाता है। ऐसे वे देव हम लोगों को शुभ बुद्धि से युक्त करें। अर्थात् वे हमारी बुद्धि को विशुद्ध बनावें।

न तो मानचित्र बनाने को, न सामान जुटाने, उठाने, धरने को, न शिल्प कार्य करने को किसी अन्य की आवश्यकता नहीं। अपनी ही स्वरूप भूता-जड़-चैतन्य-पुरुष-प्रकृति, आत्मा और महान् इन दोनों प्रकृतियों के द्वारा जो अनादि हैं, उनसे समय आने पर इस विश्व को बना लेते हैं और समय आने पर इस सम्पूर्ण प्रपञ्च को समेट कर अपने में मिला लेते हैं। वे अकेले ही यह सब खेल किया करते हैं। वे न तो किसी से सहायता की अपेक्षा रखते हैं और न किसी से सहयोग ही चाहते हैं। वे सर्व सामर्थ्यवान्, सर्वज्ञ, सर्वाधार और सर्वव्यापी हैं। जो जीव उनकी शरण में जाता है, प्रपन्न हो जाता है, उसे वे जगत् बन्धन से विमुक्त बना देते हैं। जो अपने को ही कर्ता मानकर अहंकार के वशीभूत होकर कर्म करता है, उसे संसार चक्र में घुमाते रहते हैं। जीव का कल्याण उन्हीं की शरण जाने में, उन्हीं की स्तुति-विनय, प्रार्थना तथा उपासना करने में है। यही जीव का एकमात्र कर्तव्य है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सर्वप्रथम उन परब्रह्म परमात्मा की स्तुति करनी चाहिये जो एक हैं, अवर्ण हैं। भगवान् स्वयं रंग रूप, तथा वर्ण से रहित होकर नाना प्रकार के रंगों की-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रादि नाना प्रकार वर्णों की-जाति-उपजातियों की-सृष्टि करते हैं। गुण, कर्म और स्वभावानुसार अकर्ता होकर भी वे इन सबकी रचना करते हैं। इन सबकी सृष्टि वे व्यर्थ में क्यों करते हैं? इसे अज्ञ जीव जान नहीं सकता। क्योंकि वे निहितार्थ हैं-उनका अर्थ-प्रयोजन निगूढ़ है-वे इन वर्णों को कैसे रचते हैं अपनी जो शक्तियाँ हैं उन्हीं के सम्बन्ध से-उन्हीं के द्वारा-सृष्टि के आदि में इन्हें रचते हैं, रचकर वे स्वयं ही इनका पालन करते हैं और समय आने पर

विश्व को समेटकर–अपने में विलीन करके–जो एक से बहुत बन गये थे, फिर अकेले के अकेले ही रह जाते हैं। ऐसे जो सर्वज्ञ देव हैं, वे हमारी बुद्धि पर जो एक अज्ञान का आवरण चढ़ गया है, उसे हटा दें–हमारी बुद्धि को शुद्ध बना दें। हमें उस शुभ बुद्धि से संयुक्त करदें जिससे हम उनकी उपासना रूप शुभ कर्मों को ही किया करें। जिससे बार-बार जन्म न लेना पड़े।

जब सृष्टि बन जाती है, तब वह अकेला ही बहुत वर्णों वाला बनकर बहुत से रूप रख लेता है। वही उष्ण लपट वाला सर्वव्यापक अग्नि का रूपरख लेता है। अग्नि में जो दाहक शक्ति है वह उसी की है। सूर्य बनकर वही तीनों लोकों को तपाता है। सूर्य में जो तपाने की शक्ति है वह उसी की है। वायु बनकर वह सबको जीवन प्रदान करता है वायु मे जो जीवनी शक्ति है वह उसी की है। चन्द्र, मंगल, बुद्ध, शुक्र आदि प्रकाशयुक्त ग्रह, नक्षत्र, तारों में जो चमक है–प्रकाश है–वह उसी का है। जल में जो शीतलता है, तृप्त करने और जीवन दान की शक्तियां हैं, वे उसी की हैं। वही वास्तव में तृप्त करने मे समर्थ है। लोकों को उत्पन्न करने वाले जो मरीचि, कश्यप, अत्रि आदि प्रजापति हैं, जो सृष्टि के जीवों के रचयिता हैं, उनमें जो रचने की शक्ति है उन्हीं की है। समस्त विश्व ब्रह्माण्ड को बनाने वाले जो चतुर्मुख ब्रह्मा हैं, जो त्रिगुणात्मक जगत् का निर्माण करते हैं, उनमें जो निर्माण शक्ति है, वह उन्हीं की शक्ति है, वे ही स्त्री बनकर सन्तानों को जनने लगते हैं। स्त्रियों मे जो प्रजनन शक्ति है, वह उन्हीं की है। वे ही पुरुष बनकर वीर्याधान करते हैं, पुरुषों में जो वीर्य आधान–गर्भाधान–की शक्ति है वह उन्हीं का है। अर्थात् माताओं में मातृत्वशक्ति, पिताओं में पितृत्व शक्ति परमात्मा की ही है। माता-पिता के सयोग से जो कुमार कुमारी उत्पन्न होते हैं,

उनमें जो कुमारत्व और कुमारीत्व की शक्ति है वह उन्हीं की है। अर्थात् वे ही कुमार-कुमारी बन जाते हैं। उन्हीं का नाम मोहन है और उन्हीं का नाम मोहिनी भी है। कुमार और कुमारी समय पाकर जो वृद्ध हो जाते हैं, जरावस्था स व्याप्त होकर दंड के सहारे से चलते हैं, वह वृद्धत्व श्रेष्ठत्व आपका ही है। आप ही समस्त जीवों को दंड दे देकर दंड के सहारे चलाते हो। लठिया टेकते-टेकते वूढ़ा जब खों-खों करता हुआ जाता है, तब लोग उसकी दुर्बलता पर हँसते हैं। वास्तव में आप हँसने योग्य जीर्ण नहीं हो। आकपो दंड की आवश्यकता नहीं, किन्तु आप वृद्ध का रूप बनाकर लाठी के सहारे चलकर-अपनी असमर्थता दिखाते हुए लोगों को ठगते हो। वास्तव में तो तुम विराट् पुरुष हो, सर्वतोमुख हो। सभी ओर आपके अनन्त मुख हैं, आप ही सब कुछ हो जाते हो। जब जैसे चाहते हो तब तैसा बन जाते हो।

हे प्रभो! तुम ही नील वर्ण के काले-काले भौंरें बनकर-पतङ्ग बनकर आकाश में उड़ने लगते हो। तुम ही हरे रंग के लाल-लाल आँखों वाले सुग्गे–तोते-पक्षी बनकर नभ में विचरण करने लगते हो। तुम ही विद्युत द्वारा मेघ बनकर बरसने लगते हो, तुम ही बसन्तादि ऋतुओं का रूप रखकर तदनुसार कार्य करने लगते हो, तुम ही सातों समुद्रों का रूप बनाकर इक्षु, रस, क्षीर, नीरादि बहाते हुए अगाध बन जाते हो। कहाँ तक बतावें, कहाँ तक गिनावें ये सम्पूर्ण भुवन तुम से ही उत्पन्न हुए हैं। तुम एक हो, अनादि हो, तुम्हारी जो अन्य अनादि प्रकृतियाँ हैं वे भी तुम्हारे अधीन ही हैं, तुम उनके स्वामी हो। तुम विभु हो, सर्वव्यापक हो, सर्वात्मा हो, सभी में समान भाव से विद्यमान रहते हो।

जैसे तुम अनादि हो, वैसी ही तुम्हारी एक पालतू चितकबरे रंग की बकरिया भी है, वह भी अनादि है, सदा तुम्हारे अधीन रहती है, वह लाल, सफेद और काले रंग की है। वह बहुत बच्चे बनाने वाली बकरी है। बहुत-सी प्रजाओं को पैदा करने वाली है। वह बकरिया तुम्हारी अनादि अजन्मा प्रकृति ही है। उस अजा का नाम तुमने त्रिगुणात्मिका प्रकृति रख रखा है।"

शौनकजी ने पूछा—"भगवान् की वह बकरी अपने ही आप प्रजाओं को पैदा करती रहती है क्या ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! जब तक बकरा न हो तब तक अकेली बकरी बच्चा कैसे पैदा कर सकती है ? जैसे भगवान् की एक अजन्मा अनादि अजा-बकरी-है, वैसे ही उनका एक अजन्मा अनादि अज-बकरा-भी है। सृष्टि तो मिथुन से-दो के सयोग से-होती है। भगवान् का वह अज-बकरा-अज्ञानी जीव-उस बकरी पर आसक्त होकर उसका उपभोग करता है, बन्धन में बँध जाता है। मोहवश बाल-बच्चों वाला बन जाता है। जब बकरा विरक्त होकर इस भोगी हुई बकरी से मुख फेर लेता है, इसका परित्याग कर देता है, तो वह बन्धन मुक्त हो जाता है। अर्थात् जीव प्रकृति से सम्बद्ध होने पर बँध जाता है और इस भुक्त भोगा प्रकृति का जब त्याग कर देता है, तो प्रकृति का बन्धन रूप जो मोह है, उसका क्षय हो जाता है, उसकी मुक्ति हो जाती है। वह मुक्त बन जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"एक अजा-बकरी-प्रकृति और दूसरा अज-बकरा-जीवात्मा ये दोनों अनादि हैं अजन्मा हैं। इनमें प्रकृति तो जड है। जीवात्मा चैतन्य है। प्रकृति से देह निर्मित है, जीवात्मा इस शरीर के मध्य में हृदय रूपी गुफा में रहता है। तो क्या ये दो ही अनादि हैं ?"

सूतजी ने कहा—"एक इन दोनों के स्वामी पुरुषोत्तम-परमात्मा-परमेश्वर वे भी अनादि हैं। उन्हीं के कारण तो इन दोनों का अनादित्व है। प्रकृति तो उड़ नहीं सकती, क्योंकि वह जड़ है। ये दोनों चैतन्य हैं इसलिये उड़कर वृक्ष के ऊपर बैठे रहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"वृक्ष कौन है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! यह मानव शरीर ही मानों एक प्रकार का पीपल का वृक्ष है, उस पर साथ-साथ ही-मित्र भाव से ये जीवात्मा और परमात्मा रूपी दो पक्षी निवास करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी जब दोनों ही चैतन्य हैं, दो‍ ही परस्पर में मित्र हैं, दोनों साथ ही साथ समान वृक्ष पर रह हैं। तो दोनों में अन्तर ही क्या रह गया ? दोनों समान ह होंगे ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! कारावास में पहरेदार औ अभियुक्त दोनों साथ-ही-साथ रहते हैं, किन्तु दोनों में बड़ा अन्तर है। एक तो अपने दुष्कर्मों के कारण दंड का भोग भोगता है। वह स्वेच्छा से बाहर नहीं निकल सकता। दूसरा जब चाहे बाहर जा सकता है, जब चाहे भीतर आ सकता है। इसी प्रकार ये जीवात्मा और परमात्मा रूपी पक्षी इस शरीर रूपी वृक्ष पर सदा साथ-ही-साथ रहते हैं, परस्पर में दोनों में सख्यभाव भी है। किन्तु इन दोनों में अन्तर इतना ही है, कि यह जीवात्मा रूप पक्षी तो इस शरीर रूप वृक्ष के फलों को-भोगों को-खाता है-भोगों को भोगता है-स्वाद ले-लेकर बड़े चाव से परम आसक्ति के साथ उन पिप्पलियों को भक्षण करता है, किन्तु दूसरा परमात्मा उनको खाता नहीं। वह बिना खाये साक्षी बनकर-केवल देखता ही रहता है। उनका उपभोग नहीं करता।

बन्ध तो मोह में-आसक्ति में है। खाने के कारण मोहपूर्वक भोगने से एक बँध जाता है, दूसरा सदा सर्वदा बन्धन मुक्त ही बना रहता है। इन फलों को खाने का परिणाम क्या होता है। खाने के पश्चात् आलस्य आता है, सोने की इच्छा होती है। प्रमाद भी घेर लेता है। अतः इस शरीर रूप पीपल के वृक्ष पर रहने वाला और उसके फल पिप्पलियों को खाने वाला यह जीवात्मा गहरी नींद मे निमग्न हो जाता है। अपने समीप में ही बैठे हुए अपने मित्र पक्षी को देख नहीं सकता। उसकी ओर पीठ करके निद्रालस्य मे पड़ा पड़ा झपकियाँ लेता रहता है। अधिक खा लेने के कारण उसे आलस्य घेरे रहता है। वह प्रमाद युक्त होकर आलस्य के कारण उठने बैठने में असमर्थ हो जाता है। असमर्थता में दीनता आ ही जाती है। तब वह मोह के वशीभूत होकर रात्रि दिन सोच में पड़ा रहता है। उसे शोक के कारण दुःख होता रहता है।"

शौनकजी ने पूछा—"तो क्या वह सदा शोक में ही सन्तप्त बना रहता है?"

सूतजी ने कहा—"नहीं, ब्रह्मन्! कभी करुणेश की उस पर कृपा हो जाती है। अकारण करुणा वरुणालय भगवान की उस पर अहैतुकी दया हो जाती है तो उसकी आँखें खुल जाती हैं। उसका जो अनादि मित्र है, जिसकी भक्तगण सदा सेवा किया करते हैं, जो उसके समीप में ही बैठा है, जिसकी ओर उसने पीठ फेर ली है, उस परमेश्वर को देखने लगता है, उसकी महिमा को प्रत्यक्ष देखता है, तो उसके समस्त शोक, मोह, दुःखादि नष्ट हो जाते हैं, वह वीतशोक-दुःख रहित हो जाता है।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस पर जीवात्मा का, प्रकृति का स्वरूप बताकर जीवात्मा और परमात्मा में क्या भेद

है, यह बात बतायी। जीवात्मा भोग भोगने के कारण परतन्त्र बन जाता है, परमात्मा भोगों से सदा निर्लिप्त रहता है। अतः वह सदा सर्वदा पूर्ण स्वतन्त्र है। वह परमात्मा कैसा है, आगे जैसे उसके स्वरूप का वर्णन भगवती श्रुति करेगी उसे मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

( १ )

रवि, शशि, अग्निहु, वायु,शुक,जल,ब्रह्म प्रजापति।
वे ही सब बनि गये पुरुष, नारी, बूढ़े अति॥
लाठी लेकें चलें सहस मुख वे बिराट प्रभु।
नीले बने पतंग हरे तोता वे ई विभु॥
मेघ, वसन्त, समुद्र वे, सकल भुवन पैदा करें।
वे अनादिमत विभु विमल, अन्त उदर सबकूँ धरें॥

( २ )

उनकी बकरी एक अजन्मा है अनादि जो।
कारी, लाल, सफेद सरूपा त्रिगुणमयी सो॥
प्रजा बहुत सी रचै लड़ैती चितकबरी है।
बकरा संग में एक मोहमय अज्ञानी है॥
बनिकें अज आसक्त जब, भोगी तब बधि जातु है।
तजै भुक्तभोगा जबहिँ, मुक्त होइ छुटि जातु है॥

( ३ )

देह रूप जो वृक्ष जीव अरु ईश बसैं खग।
संगी, साथी, सखा तिनहिँ जानत सबरो जग॥
एक स्वादु फल खाइ जगत बन्धन बँधि जावै।
दूसर खावै नहीं सच्चिदानन्द कहावै॥
जीव भोग तैं दुखित अति, शोक मग्न सोचत रहत।
करें कृपा करुणेश जब, मिटै शोक ईशहिँ लखत॥

# परमात्म स्वरूप और उनसे मुक्ति की प्रार्थना

[ २७९ ]

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥*

(श्वे० अ० उ० ४ अ० ८ मन्त्र)

छप्पय

*जिनिमें विश्वे देव, वेद सबई इस्थित हैं ।*
*जा अविनाशी परम, जीव जे नहिँ जानत हैं ॥*
*वे यदि वेदनि ऋचा रटैं ते का फल पावैं ।*
*जे तिनि विधिवत जानि तिनहिँ में थित ह्वै जावैं ॥*
*छन्द, यज्ञ, व्रत, विश्व सब, भूत, भविष्यत दृष्ययह ।*
*ईश सबहिँ कूँ सृजत हैं, जीव मोह तैं बधें वह ॥*

---

* जिस परब्रह्म परमात्मा के अक्षर परमधाम में समस्त देवगण तथा वेदो की समस्त ऋचायें हैं । उन परब्रह्म परमात्मा को जो जानता नही है वह यदि केवल ऋचाओं को ही रट लें, तो ये वेद की ऋचायें उसका क्या उपकार करे गी ? किन्तु जो उस परमात्मा को जान लेते हैं, वे तो उसी को भली-भाँति प्राप्त कर लेते हैं ।

जिस परमधाम–परमव्योम–में भगवान् श्रीमन्नाराय
विराजमान रहते हैं, उनकी सेवा में आठों सिद्धियाँ, नऊ निधि
समुपस्थित रहती हैं। उपासना के द्वारा जिन साधकों को दिव्य
प्राप्त हो गयी है, अथवा जो उनके नित्य पार्षद हैं. वे भगवान
सेवा में सदा संलग्न रहते हैं। वे भगवान जैसे सब से ऊपर
लोक वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत लोक में विद्यमान हैं, वैसे ही पृथ्व
पर भी वे श्वेतद्वीप में अवस्थित रहते हैं। क्षीरसागर में भी उनक
निवास है। समस्त वस्तुओं के अधिष्ठातृ देव उनका कैंकय करते
रहते हैं। सदा सेवा में संलग्न रहते हैं। जैसे समस्त देवगण
परम दिव्य रूप से उन्हीं के अग भूत पार्षद सेवा मे रहते हैं वैसे
ही मूर्तिमान् वेद भी दिव्य रूप से उनकी सेवा मे लगे रहते हैं।
चारों वेद भी सशरीर भगवान् का कैंकर्य करते हैं। कुछ ऐसे भी
लोग हैं, जो वेदों की ऋचाओं को तो सस्वर रट लेते हैं, किन्तु
परब्रह्म परमात्मा से अनभिज्ञ ही बने रहते हैं। वेदों के पढ़ने का
फल तो यही है कि उन परब्रह्म का ज्ञान हो जाय। वेद साध्य
नहीं भगवान् की प्राप्ति का साधन हैं। भगवान् को साध्य न
मानकर–वेदों को पढ़ भी लिया और भगवान् को न जाना तो
उसके वेदों के पढ़ने से क्या लाभ ? उसका केवल ऋचाओं को
तोते की भाँति रट लेना एक प्रकार से व्यर्थ-सा ही है। और यदि
उन परब्रह्म परमात्मा को तत्त्व से जान लिया, तो उसे वैकुण्ठ
की प्राप्ति हो ही जायगी, जहाँ वेद मूर्तिमान होकर भगवान् का
कैंकर्य करते हैं। भगवत् धाम की प्राप्ति होने पर वेदों का ज्ञान
उसे स्वतः प्राप्त हो जायगा। अतः वेदों का अध्ययन हमें भगवत्
प्राप्ति हो, उनके परमधाम में हमारी स्थिति हो जाय, इसी उद्देश्य
से करना चाहिये। इस उद्देश्य से वेदाध्ययन करने से उनके परम-
धाम की प्राप्ति होगी, वहाँ सदा-सदा के लिये स्थिति हो जायगी,

वहीं पर मूर्तिमान वेद भी स्थित रहते हैं। अतः भगवान् के साथ ही साथ वेदों की भी प्राप्ति हो जायगी। वेद भगवान् के अङ्गभूत ही तो हैं।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! देव वेद सब परमव्योम-परमधाम-वैकुण्ठ-में भगवत् सन्निधि में रहते हैं। जो भगवत् तत्त्व से उदासीन हैं और ऋचाओं को रट लेते हैं। तो वे उस तोता रटन्त से क्या सिद्ध कर सकेंगे। दूसरे उपासना द्वारा उस तत्त्व को जान लेते हैं, उनकी स्थिति परमधाम में हो जाती है, तो वेद तो उसे स्वतः ही प्राप्त हो जाते हैं। वेद भगवत् प्राप्ति का साधन है। साध्य तो वे सर्वेश्वर सर्वात्मा सच्चिदानन्द ही हैं। क्योंकि समस्त वेद, सम्पूर्ण यज्ञ, क्रतुविशेष यज्ञ, समस्त व्रत उपवासादि शुभ कर्म हैं, संसार में जो भी भूत भविष्य और वर्तमान है जिन-जिनका वर्णन वेदों में आया है, उन सभी को ये परब्रह्म परमात्मा जो माया के अधिपाति हैं-प्रकृति के स्वामी हैं-वे प्रकृति द्वारा इन सबको बनाते हैं। इन सबकी रचना करवाते हैं। परमात्मा तो प्रकृति से परे हैं, किन्तु यह अज्ञानी जीव उस प्रपञ्च में बँधा हुआ है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! माया क्या ? मायी क्या और जगत् क्या ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! भगवती श्रुति स्वयं ही इन तीनों की व्याख्या करती हुई बताती है, कि प्रकृति को ही माया जानो और मायी-माया के पति महेश्वर को मानो तथा उन्हीं महेश्वर के अवयव भूत जो कार्य कारण समुदाय हैं, उन्हीं के द्वारा यह प्रपञ्च उत्पन्न हुआ है। यह सम्पूर्ण जगत् उन्हीं के द्वारा व्याप्त हो रहा है।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! बन्धन में तो अशान्ति रहती

वे विश्वकर्मा हैं, महात्मा हैं, सतत सबके हृदय में संनिविष्ट हैं। मन से, बुद्धि से तथा हृदय से ध्यान करने पर वे ध्यान में आते हैं। उनको जो ध्यान द्वारा जान जाते हैं, वे मृत्यु के चंगुल से सदा सर्वदा के लिये छूटकर अमृत हो जातेहैं। जन्म मरण के चक्कर से विमुक्त बन जाते हैं।

वे परमात्मा केवल हैं, शिव स्वरूप हैं, अक्षर हैं, वे सूर्यादि देवों के भी उपास्य हैं–वरेण्य हैं–वे प्रकाश-अन्धकार, दिवस रात्रि तथा सत्-असत् सब से परे हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"तो सूतजी ! जो न सत् हैं न असत् तो उन्हें जाना कैसे जा सकता है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! जीव अपनी प्रज्ञा से उन्हें थोड़े ही जान सकता है ? वे तो मन बुद्धि की परिधि से सदा परे हैं। उन्हें जीव उन्हीं की कृपा से जान सकता है। उनके प्रपन्न होने पर ही उन्हें पहिचान सकता है। उन्होंने जग में जो अपनी पुराणी प्रज्ञा फैला रखी है उसी प्रज्ञा की परम्परा द्वारा पुरुष उन्हें जान लेता है।

उसे कोई स्वतः पकड़ना चाहे, तो कैसे पकड़ सकता है। ऊपर से, नीचे से, मध्य से, इधर से, उधर से कैसे भी वे पकड़ में नहीं आने वाले हैं। उसके यश द्वारा ही उसकी पकड़ हो सकती है।"

शौनकजी ने कहा—"उस परमात्मा का यश क्या है ?"

सूतजी ने कहा – "उसके राम, कृष्ण, गोविन्द, माधव, हरि, मुरारी ये सुमधुर नाम ही यश हैं। नाम जप से ही वह पकड़ में आ सकता है। आप चाहो कि उसके सदृश किसी पुरुष को देखकर उसे पहिचान लें, उसे पकड़ लें तो असम्भव है, क्योंकि

उसके सदृश कोई दूसरा है ही नहीं। उसकी उपमा अन्य किसी से दी ही नहीं जा सकती।"

शौनकजी ने पूछा—"तब उसे कैसे देखें ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! वह अन्तर्यामी है, सबके घट घट में विराजमान् है, उसे भक्ति से, भीगे हृदय से, श्रद्धा से, द्रवित अन्तःकरण से, मल रहित स्वच्छ निर्मल मन से ही देखा जा सकता है। उसे देख लेने पर जीव कृतार्थ हो जाता है, अमृत बन जाता है। उसका रूप इतना तेजयुक्त प्रकाशवान् है कि मानवीय दृष्टि के सम्मुख ठहरता नहीं। इसीलिये इसे मनुष्य चर्म चक्षुओ से देखने मे असमर्थ है। इसे देखने को उसी द्वारा दी हुई दिव्य दृष्टि चाहिये। साधुजन उन्हीं की कृपा से उन्हीं द्वारा प्रदत्त दिव्य दृष्टि से उसे देखते हैं। ऐसे परमात्मा की स्तुति विनय करनी चाहिये। स्तुति द्वारा ही वे दया दृष्टि करते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"कैसे स्तुति करें ?"

सूतजी ने कहा—"जैसे बने तैसे करे। उनसे रो रोकर-बिलखकर, आर्तभाव से, श्रद्धा भक्ति पूर्वक कहे—हे सर्व सहारक रुद्रदेव ! आपका तो कभी जन्म होता नहीं, अतः आप तो कभी बन्धन में बँधते नहीं, मैं जीव हूँ, इसलिये मोह वश जन्म मरण के चक्कर में फँस गया हूँ, मैं जग बन्धन मे बँधकर भीरु बन गया हूँ, अतः आप अजन्मा की शरण में आया हूँ। अतः आपका जो दाहिना कल्याणकारी मुख है। आपका जो दयामय स्वरूप है उसी के द्वारा हे शरणागतवत्सल ! मुझ शरण में आये दीन हीन भीरु पुरुष की सर्वदा रक्षा करो। हे अशरण शरण ! मा पाहि-मेरी जन्म मरण रूपा भयङ्कर राक्षसी से रक्षा करो।

हे रुद्र स्वरूप कालात्मन्! परमात्मन्! हम समस्त की ओर से आपके पादपद्मों में पुनः-पुनः प्रार्थना क हम श्रद्धानुसार यत् किंचित उपहार-भेंट लेकर आपका आ करते हैं। आप हम पर प्रसन्न हों। कुपित होकर हमारे पौत्रों को, हमारे धन को, हमारी आयुष्य को, हमारे घ हाथी, गौ आदि पशुओं में से किसी को अकाल में काल लित न करें, उनमें किसी प्रकार की कमी न करें। हमारे रा वीर पुरुषों का नाश न करें।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार भगवान् के किंचित स्वरूप का, उनकी प्राप्ति के फल का तथा राष्ट्र कल्याण हेतु उनकी स्तुति का आपके सम्मुख वर्णन किया। आगे जीवात्मा के सम्बन्ध में पञ्चम अध्याय में कहा जायगा।

छप्पय

(१)

*माया ही है प्रकृति महेश्वर मायापति हैं।*
*व्याप्त तिनिहिं सब जगत कार्य कारन वे तिनि हैं॥*
*एक अधिष्ठित सकल प्रलय में लीन होहिं जिनि।*
*शान्ति प्राप्त नर करें जानिकें देव वरद तिनि॥*
*सुरनि प्रभव उद्भव अखिल, हिरण्यगरभ तें प्रथम जो।*
*अखिल विश्वपति रुद्रपिप्रवर, करें बुद्धि कूँ शुद्ध सो॥*

(२)

*देवाधिप सब लोक रहें शासन में जिनिके।*
*द्विपद चतुष्पद जीव सबहिं अंकुश में तिनिके॥*
*तिनिकी श्रद्धा सहित भेंट धरि पूजा करिहैं।*
*शिव स्वरूप तिनि पूजि अमर बनि नहिं हम मरिहैं॥*
*सूक्ष्म तें हू सूक्ष्म जो, हृदय गुफा में नित बसत।*
*विश्व सृजत सब मल रहत, रूप विविध जग हित धरत॥*

छप्पय

( ३ )

समय समय पै करें भुवन की रक्षा जगपति।
भूतनि में नितगूढ़ भाव तै बसहिँ महामति॥
सुर मुनि जिनिका ध्यान धरें मृत्युहिँ तरि जावें।
घीउ मण्ड सम सूक्ष्म जानि नर अमर कहावें॥
जगकर्ता अज महात्मा, हिय थित जे चिन्तन करें।
हृदय बुद्धि मन ध्यान धरि, जनम मृत्यु जग भव तरें॥

( ४ )

अतम जबहिँ है जाइ दिवस नहिँ रात्रि असत सत।
केवल शिव अज एक उपास्यहु रवि धी प्रसृत॥
नीचे ऊपर नहीं न दायें बायें मधि है।
पकरि न कोई सकै सरिस नहिँ नामहि यश है॥
रूप दीठि पथ नहिँ टिकै, चरम चक्षु दीसत नहीं।
निरमल मन-धी-शुद्ध हिय, लखि होवै अमृत वहीं॥

( ५ )

रुद्र! भीरु हम शरन अजन्मा तुमकूँ जानी।
रक्षा हमरी करो-सतत-हम हैं अज्ञानी॥
भेट लाइकें तुमहिं बुलावें कुपित न होवें।
पुत्र पौत्र मम आयु अश्व गो नहिँ कम होवें॥
सबई की रक्षा करो, होउ सदय सब पै प्रभो।
वीर पुरुष जा राष्ट्र के, नसें न अस कीजे विभो॥

इति श्वेताश्वतर उपनिषद् का चतुर्थ
अध्याय समाप्त

—०—

# परमात्मा और जीवात्मा

[ २८० ]

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते
विद्याविद्ये निहिते यत्रगूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या
विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः।
(श्वे० उ० उ० ५ म० १)

छप्पय

*जिनि अक्षर पर-ब्रह्म माहिँ हैं छिपे उभय हैं।*
*एक अविद्या क्षरहु अमृत विद्या जीवहु है॥*
*शासन इनिपै करै वही परमातम कहावै।*
*सब योनिनि सब रूप ईश इनको कहलावै॥*
*हिरणगरभ ऋषि कपिल कूँ, ज्ञान दान तैं पुष्ट करि।*
*सबको कारन लखहिँ सब, सोवै सबकूँ उदर धरि॥*

इस प्रपञ्चात्मक जगत् को हम प्रत्यक्ष देखते हैं और ना

* जिस परम अक्षर अनन्त परब्रह्म में विद्या और अविद्या दोनों स्थित हैं। क्षर को—विनाशशील जड वर्ग को अविद्या—कहते हैं अविनाशी अमृत—जीवात्मा—को विद्या कहा गया है। जो विद्या-अविद्या का स्वामी है—ईश है—वह इन विद्या-अविद्या से भिन्न—परमात्मा—है।

योनियों में जन्म धारण करने वाले जीव को भी हम देखते हैं, किन्तु इस जगत् पर और जीवों पर जो शासन करता है, उस परमात्मा को हम नहीं देखते। वह एक छिपा हुआ शासक है, वह जिसे चाहे पकड़वा कर कारावास में उसके कर्मानुसार बन्द कर सकता है। बन्द हुए बन्दी को कृपा करके मुक्त कर सकता है। बन्ध और मोक्ष उसी की आज्ञा पर निर्भर है।

जीव अनादि कर्मवासना के कारण जगत् में अनेक योनियों में जन्म लेता है, जब जिस जीव को कृपा करके वह परमात्मा मुक्ति के हेतु वरण कर लेता है, जिसे ससार बन्धन से छुड़ाने का वह विचार कर लेता है—उसे शुभ बुद्धियोग प्रदान कर देता है। ऐसे मुमुक्षु की बुद्धि भगवान् की भक्ति की ओर लग जाती है। निरन्तर भगवान् का भजन, पूजन, अर्चन वन्दन करने स-र्वात्मभाव से उनकी शरण ग्रहण करने से-जीव के समस्त पूर्व-न्मों के किये हुए कल्मष नष्ट हो जाते हैं। उसकी अज्ञानजनित दय की गाँठ खुल जाती हैं, उसे इस बात का ज्ञान हो जाता , कि अज्ञान के वशीभूत होकर-अपने को व्यर्थ में ही कर्ता नकर-मैं भटक रहा था। सबके कर्ता-धर्ता तो ये विद्या अविद्या परे-जीव और जगत् से अन्य-परमात्मा ही हैं। इतना न होते ही, जीवात्मा, ससार बन्धन से मुक्त हो जाता है। कृति आठ प्रकार की है—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, , बुद्धि और अहकार। इसी प्रकार जीव के भी दो भेद हैं एक जीव, दूसरा मुक्त जीव। बद्ध जीव अज्ञान के कारण प्रकृति बन्धनों में बँधकर जन्मता, मरता रहता है और मुक्त जीव वान् का यथार्थ ज्ञान होने से आवागमन से मुक्त होकर-त बनकर-आनन्दामृत का पान करता रहता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! संसार में तीन ही वस्तुएँ हैं,

अविद्या दूसरी विद्या और तीसरी इन दोनों को शासन में रखने वाली। इनका संचालन करने वाली शक्ति है। वैसे शक्ति तो सभी में है, किन्तु सबसे श्रेष्ठ शक्ति होने से वह परमाशक्ति कहाती है। वैसे ईशत्व-स्वामीपना-तो सभी में है। मनुष्यों के ईश नरेश कहाते हैं। खग-पक्षियों के ईश-खगेश-कहाते हैं। सुर-देवताओं के ईश सुरेश कहाते हैं, किन्तु इन समस्त ईशों के भी जो एकमात्र ईश हैं, वे परमेश या परमेश्वर कहाते हैं। आत्मा तो जीव, शरीर, मन, इन्द्रियाँ, पृथ्वी, वायु, बुद्धि, पुत्रादि सभी कहलाते हैं। किन्तु इन सबका जो एकमात्र आत्मा है वह परमात्मा है। विद्या और अविद्या से अन्य इन सबसे सर्वदा विलक्षण है।"

शौनकजी ने पूछा—"अविद्या क्या ?"

सूतजी ने कहा—"जो क्षर है-विनाशशील जड़वर्ग है। जो पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार रूप अष्ट प्रकृति द्वारा निर्मित चराचर जगत् के पदार्थ हैं, ये सब अविद्या नाम से कहे जाते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"विद्या क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"विद्या भी प्रकृति ही है, किन्तु वह प्रकृति जिसे ज्ञान हो जाय। (विद्यतेऽसौ=इति-विद्या) जिसकी बुद्धि मोक्षमार्ग में लग जाय। जो पुरुषोत्तम पुरुषार्थ साधनीभूता प्रकृति है। पहिली अविद्या प्रकृति जड़रूपा थी। यह विद्या प्रकृति चैतन्यरूपा है अर्थात् जीवात्मा। वह प्रकृति क्षर विनाशशील थी। यह प्रकृति-जीवात्मा-अक्षर है अर्थात् अविनाशी वर्ग। समस्त जीव समुदाय विद्या के नाम से पुकारा जाता है।"

शौनकजी ने पूछा—"जड़वर्ग हो गया, अविनाशी चैतन्यवर्ग हो गया। अब परमात्मा परमेश्वर क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"प्रकृति तो जड है, जीव यद्यपि चैतन्य है, किन्तु वह अज्ञानी है, स्वतन्त्र नहीं। इन दोनों पर—विद्या और अविद्या पर—जो शासन करता है, जो इन दोनों से भिन्न अपूर्व है, जो ब्रह्माजी से भी परे है, जो सबका सूत्रधार है, किन्तु जो छिपा बैठा रहता है, जिसकी कोई सीमा नहीं, जिसका पार नहीं, वह अपार, असीम, अक्षर परब्रह्म परमात्मा है। विद्या और अविद्या दोनों से ही परमश्रेष्ठ है।"

वह यद्यपि अकेला ही है, परन्तु एक होने पर भी समस्त चरों पर, समस्त अचरों पर, समस्त योनियों पर, समस्त रूपों पर, समस्त कारणों पर अपना अंकुश रखता है, सब पर अपना आधिपत्य जमाये रखता है। कोई भी उसे नहीं जानता वह कब उत्पन्न हुआ। उत्पन्न हुआ भी या वह सदा जैसे-का तैसा, अजर अमर, एकरस, शाश्वत बना रहता है, क्योंकि हम लोग कपिल ऋषि को—हिरण्यगर्भ को—सबके पितामह ब्रह्मा को ही आदि पुरुष मानते हैं। उन प्रजापतियों के भी पति ब्रह्माजी को ये ज्ञानोपदेश करके पुष्ट करते हैं। उन आदि पुरुष ब्रह्माजी को जिन्होंने उत्पन्न होते देखा है। देखा क्या उनकी भी उत्पत्ति इन्हीं से हुई।

जैसे मकडी स्वयं ही जाला बनाकर उसमें जीवों को फँसाती है, इच्छा होती है, तब तक क्रीडा करती है, उस जाल की रक्षा करती रहती है। जब इच्छा होती है, तब उसे निगल जाती है। पेट में रखकर सो जाती है। जब इच्छा होती है, तब फिर सूत्र को मुख से निकाल कर ताना-बाना पूर कर जाल बना लेती है, जीवों को फँसा लेती है। ऐसे ही ये परमदेव इस जगत् रूप क्षेत्र में जब सृष्टि करना चाहते हैं तब अकेले ही इस जाल को पंच भूतादि तत्त्वों को भाँति-भाँति से विभाग करके, उनका उपसं

बना लेते हैं। जब तक इच्छा होती है तब तक उसमें विहार करते रहते हैं। जब इच्छा होती है, तब इसका संहार कर लेते हैं, अपने में लीन कर लेते हैं। जीव आत्मा है, ये उससे बड़े आत्मा महात्मा हैं। जीव अनीश है ये सबके ईश हैं। सबको उदर में रखकर एकाकी सोते रहते हैं। जब फिर इच्छा होती है, तो फिर से पहिले की भाँति हाट लगा लेते हैं। दूकान के सामान को बाहर सजा देते हैं। इन्द्र, वरुण, कुवेर, यमराज आदि लोकपालों की रचना करते हैं और आप सबके सिरमौर मुकुटमणि अधिपति बनकर सबके ऊपर आधिपत्य जमाये रहते हैं। सबकी नाकों में नकेल डालकर नचाते रहते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"अकेले सब पर शासन कैसे करते होंगे ?"

सूतजी ने कहा—"क्यों महाराज ! सूर्य तो अकेले ही हैं न ? वे समस्त दिशाओं में ऊपर-नीचे, दायें-बायें, इधर-उधर, टेढ़े-तिरछे सब ओर प्रकाश फैलाते रहते हैं। अपने प्रकाश से देदीप्यमान होकर सभी को प्रकाशित करते रहते हैं। उसी प्रकार ये वरेण्य परमदेव अपनी समस्त शक्तियों पर अकेले ही प्रभुत्व स्थापित किये रहते हैं। जैसे एक चक्रवर्ती राजा एक स्थान पर बैठकर ही भूमंडल का शासन करता रहता है। वैसे ही वह विश्वयोनि परमात्मा सबके स्वभाव को पचाता रहता है। जो पदार्थ पक जाते हैं उन्हें नाना रूपों में परिणित करता रहता है। वह एकाकी ही समस्त जीवों का संयोग-वियोग कराता रहता है, इस प्रकार वह अनन्त ब्रह्माण्डों का भली प्रकार से पालन-पोषण करता रहता है। सब पर शासन करता रहता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जो गूढ़ है, सदा सर्वदा छिपा

रहता है, उसको आज तक किसी ने देखा भी है ? कोई उसे जानता भी है क्या ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! वह सबसे छिपी रहती है, सबको देखकर मुख ढक लेती है। सदा परदे में रहती है, किन्तु अपनी सखी सहेलियों से तो मिलती जुलती ही है, उनसे तो मिल-घुलकर बातें करती है। इसी प्रकार जो उनके तदीय हैं, अनन्य भक्त हैं, प्रपन्न हैं, उनके सम्मुख वे प्रकट होते हैं, उन्हें वे अपना मधुर मुख दिखा देते हैं। वे उनसे घुल मिल जाते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"एक आध का नाम बताइये ?"

सूतजी ने कहा—"एक दो हों तो उनका नाम भी गिनाया जाय। असंख्य देवता, ऋषि, मनुष्य उन्हें जानकर उनमें तन्मय हो गये हैं, अमृत स्वरूप बन गये हैं। समस्त उपनिषदों में (जिन उपनिषदों में वेदों का गूढ रहस्य छिपा है उनमें) एकमात्र उन्हीं की महिमा तो गायी गयी है, वे वेदों के रचयिता हैं, बनाने वाले हैं, वेदों के वे प्राकट्य स्थान हैं, उन्होंने ही ब्रह्माजी को वेद पढ़ाये। वे ब्रह्माजी भी उन्हें जानते हैं। वे उनके पुत्र ही ठहरे। इनके अतिरिक्त उनके बहुत से भक्त भी उन्हें जानकर उन्हीं के हो गये हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जीव जब स्वयं साधनों के द्वारा उन परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि वे साधन-साध्य नहीं हैं, कृपासाध्य हैं। जिन जीवों पर वे कृपा करते हैं—उनको वे अपना लेते हैं—उन्हें ही बुद्धियोग प्रदान करते हैं, जिस बुद्धि के सहारे वे जीव उनको प्राप्त कर लेते हैं। वे कुछ जीवों को तो कृपा करके उन्हें बन्धन मुक्त कर देते हैं, कुछ जीवों को और बन्धन में बाँध देते हैं, तो वे फिर समदर्शी तो नहीं हुए। उनकी बुद्धि में भी विषमता है। जीव तो सभी उन्हीं के हैं। वे

तो सभी के माता, पिता सुहृद् सगे सम्बन्धी हैं, फिर वे ऐसा पक्षपात क्यों करते हैं ? ऐसा विषमता का व्यवहार वे क्यों क हैं ? उनके लिये तो सभी बराबर हैं। बन्धन में डालें तो स को समान भाव से बन्धन में डालें, मुक्त करना हो तो सभी साथ साथ ही मुक्त कर दें। यह क्या किसी को प्यार कर संसार से मुक्त कर दिया, किसी को कोप करके संसारी बन्धन बाँध दिया ?"

सूतजी ने कहा—"महान् ! विषमता परमात्मा में नहीं कर्मों की विषमता के कारण जीवों की बन्ध मोक्षादि गति होती हैं।"

शौनकजी ने कहा—"जब सब कर्मानुसार ही होता है, त फिर परमात्मा की क्या आवश्यकता है। हम शुभ कर्म करेंगे, त मुक्त हो ही जायँगे।"

सूतजी ने कहा—"कर्मों का फल देने वाला भी तो कोई चाहिये। कर्म तो जड़ हैं, उनका फल भी जड़ है। जब उनको कोई वितरित करने वाला न होगा, तब तक कर्मों का फल जीवों को मिलेगा कैसे ?"

शौनकजी ने कहा—"कर्मों का फल स्वतः ही-स्वभाव से ही मिल जायगा। जैसे अग्नि का स्वभाव जलाना है, जल का स्वभाव शीतल है, ऐसे ही शुभकर्मों का स्वभाव सद्‌गति है, अशुभ कर्मों का स्वभाव असद्‌गति है।"

सूतजी ने कहा—"जब तक कोई चैतन्यप्रेरक न हो, तब तक स्वभाव ही क्या करेगा। यन्त्र से यद्यपि सभी शुभाशुभ कर्म होते हैं। जैसे विद्युत् है, वह जला भी सकती है, शीतलता भी प्रदान करती है। मार भी सकती है, जिला भी सकती है। फिर भी उसका एक योजक, संचालक, चलाने वाला, युक्तिपूर्वक उससे

काम लेने वाला चैतन्य तो हो ही। इस प्रकार परमात्मा बद्ध जीवों को उनके कर्मानुसार शुभाशुभ फल देते हैं, जिसके कर्म बन्धन शिथिल हो गये हैं, उन्ह बुद्धियोग देकर अपना ज्ञान करा देते हैं, जिससे वे आवागमन के बन्धन से छूट जाते हैं। कर्म प्रवाह अनादि है, किस जीव के कितने सचित कर्म हैं, इसे परमात्मा परमेश्वर के अतिरिक्त दूसरा नहीं जान सकता। जैसे जिस जीव के कर्म होते हैं वैसे गुणों के साथ उसका सयोग परमात्मा करा देते हैं। जिसके कर्म तीनों गुण वाले होते हैं, वह गुण-प्रवाह में पड़कर नाना योनियों मे जन्मता मरता रहता है।"

शौनकजी ने पूछा—"यह जीव नाना योनियों में क्यों भटकता है, इसका कारण क्या है ?"

सूतजी ने कहा —"भगवन् ! बताया तो सही शुभाशुभ कर्म ही कारण नीची और ऊँची योनियों में जीव जाता आता रहता है, इस विषय को भगवती श्रुति जैसे और स्पष्ट से बतागी, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

—०—

छप्पय

( १ )

*एक देव तन क्षेत्र जाल जग सृष्टि रचावें।*<br>
*प्रलय काल सहार करें पुनि जगत बनावें॥*<br>
*लोकपाल सब रचैं रखैं प्रभुता जा जग पै।*<br>
*रवि सम सबई दिशनि प्रकाशित हों त्रिभुवन पै॥*<br>
*वे वरेण्य भगवान प्रभु, देव महात्मा एक हैं।*<br>
*सब शक्तिनि शासन करत, विश्वरूप सब पचत हैं॥*

( २ )

तत्वनि शक्ति प्रभाव पकावत सबकूँ स्वामी।
फिरि पकाइकें उन्हें मुदित हों अन्तरयामी॥
तप संकल्प पकाइ विविध रूपनि परिवर्तित।
जथा जोग्य संजोग करे सब जग उनि शासित॥
उपनिषदनि में गूढ़ अज, वेदयोनि जानत तिनहिं।
सुवे देव ऋषि अमृत बनि, निर्भय अपनावें जिनहिं॥

# जीव का जन्म-मरण और उससे छूटने का उपाय

[ २८१ ]

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता
कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा
प्राणाधिपः सचरति स्वकर्मभिः ॥*

(श्वे० अ० ५ म० ७ मन्त्र)

छप्पय

*जीवात्मा गुन बँध्यो कर्म फलहेतु करत नित ।*
*कृत करमनि उपभोग करै बहु योनिनि भटकत ॥*
*तीनि गुननि तैं युक्त तीनि मार्गनि कूँ जावै ।*
*देवयान अरु पितर, जगत में आवै जावै ॥*
*रविसम अगुठमात्र जो, अहंकार सकल्पयुत ।*
*बुद्धि आत्मगुन कारनै आरनीक समजीव इत ॥*

---

* कर्मों को फल प्राप्ति के उद्देश्य से करने वाला यह जीवात्मा तीनों गुणों से बँधा हुआ है। इस कारण से ही अपने ही किये हुए कर्मों का उपभोग करता है तथा विभिन्न रूपों में प्रकट होकर तीन गुणों के कारण ही तीन मार्गों में गमन करता है। प्राणों का अधिपति यह जो जीवात्मा है, अपने ही कर्मों से प्रेरित होकर विविध योनि में सचार करता रहता है। ( ) ॥

जैसे जीव और जगत् अनादि हैं ऐसे ही जीवों की क श्रृंखला भी अनादि है। प्रलयकाल में जब जीव परमात्मा शरीर में समा जाते हैं, तब उन जीवों के कर्म समाप्त नहीं जाते। वे कर्म भी उनके साथ संलग्न रहते हैं। जब पुनः सृ होती है, तो जीवों को उनके पूर्वकृत कर्मों के अनुसार कि कर्मों के भोगों के लिये वैसी योनि प्राप्त हो जाती है। जैसे हम आधा भवन बनाकर रात्रि में सो जाते हैं, तो दूसरे दिन उठकर हमें भवन को फिर से नये रूप से आरम्भ नहीं करना पड़ता। जितना बन गया है, उससे आगे उसे बनाते हैं। किस जीव ने कितने कर्म भोग लिये हैं, कितने भोगने को शेष हैं, इसकी सूची भगवान् के पास रहती है। वे ही सबके कर्मों के सम्बन्ध में जानकारी रखते हैं। जीव कर्म क्यों करते हैं ? इसलिये करते हैं, कि वे सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से बँधे हुए हैं। इसी लिये सात्त्विक, राजस और तामस तीनों प्रकार के कर्मों को जीव करता है। इन कर्मों से तीन ही गतियाँ जीव की होती हैं। सत्त्व गुण से ज्ञान होता है, ज्ञान से मुक्ति होती है। रजोगुण से लोभ होता है, स्वर्गादि के भोगों को भोगने की इच्छा होती है, उन भोगों को भोगकर पुण्य क्षय होने पर पुनः इस लोक में जन्म लेना पड़ता है। तमोगुण से निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद होता है। जिससे यहीं पर कूकर-सूकर आदि अनेक योनियों में बार-बार जन्मना मरना पड़ता है। मिश्रित गुणों के प्रभाव से मिश्रित फल मिलता है। इसी का नाम गुणात्मक संसार चक्र है। इस चक्र से छुटकारा एकमात्र भगवत् कृपा से ही हो सकता है। इसके अतिरिक्त परमात्मा की प्राप्ति का दूसरा कोई मार्ग है ही नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जीव के दो रूप बताये हैं, एक

जो गुणातीत दूसरा गुणान्वय–अर्थात् सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से बँधा हुआ। जो गुणातीत हो गया है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता, वह अमृत स्वरूप हो जाता है। जो गुणान्वय है–गुणों में आबद्ध है, वह जो भी कर्म करेगा फल के उद्देश्य से सकाम भाव से करेगा। कामना ही बन्धन का हेतु है। कामनानुसार फल का उपभोग करेगा तो उसे उसका परिणाम भी भोगना ही पड़ेगा। अपने को कर्ता मानकर जो कर्म करेगा तो कर्म का फल भोगना अनिवार्य ही है। उसे नाना योनियों में, विभिन्न रूपों में कर्मों का फल भोगने जन्म लेना ही पड़ेगा। गुण सत्त्व, रज और तम तीन प्रकार के हैं, अतः इनके गमन करने के मार्ग भी देवयान, पितृयान और इसी लोक में पुनः-पुनः जन्म लेना ये तीन ही हैं। यह जीवात्मा शरीरों में रहता है। शरीर के भीतर रहने वाले जो दश विध के प्राण हैं, यह जीवात्मा उनका अधिपति है। प्राण जीव के बिना नहीं रह सकते। जीव जिस शरीर को छोड़ना चाहता है, प्राण उसे पहिले ही छोड़ देते हैं। प्राणहीन शरीर ही मृतक कहलाता है। प्राण जीवात्मा के साथ बँधे रहते हैं। वह एक शरीर को त्यागकर दूसरे में, दूसरे शरीर को त्यागकर तीसरे में ऐसे जाता आता रहता है।"

शौनकजी ने पूछा—"यह जीवात्मा एक ही योनि मे क्यों नहीं रहता? नाना योनियों में क्यों विचरण करता है?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! कई बार तो बताया है, अपने कृत कर्मों से प्रेरित होकर अहङ्कार वश जैसे कर्म करता है, उन कर्मों के फलों को भोगने को वैसी ही योनि में उसे विवश होकर जाना पड़ता है। कुत्ताओं के से कर्म किये हैं, तो कुत्ता योनि में प्राप्त होकर फल भोगेगा। मनुष्य योनि कर्मयोनि है, शेष सब योनियाँ भोग योनियाँ हैं। शुभ कर्म किये हैं तो देवयोनि को प्राप्त

होकर फल भोगेगा। अशुभ कर्म किये हैं, तो अशुभ योनियों में उनका फल भोगेगा।"

शौनकजी ने पूछा—"इस जीवात्मा का स्वरूप कैसा है?"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! भगवती श्रुति तो आरे के नोंक जैसे अत्यन्त सूक्ष्म आकार का बताती है। यह जीवात्मा हृदय कमल की गुफा में आकाशवत् निवास करता है। हृदय को अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला बताया है, तो इस जीव को भी उसमें रहने के कारण उसी के नाप का—उसी के परिमाण वाला बताया है। इस जीव का प्रकाश सूर्य सदृश है। यही इस जीव की बद्धता का लक्षण है, कि यह नाना संकल्पों से और अहङ्कार से युक्त है। अहंकार के कारण कर्ता न होने पर भी अपने को कर्ता मान बैठता है। इसी से बुद्धि के तथा तीनों गुणों के कारण और अपने गुणों के कारण यह जगत् जाल में फँस जाता है। जो ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेते हैं वे ही इस जीव के स्वरूप को भली-भाँति जानकर इसकी गति विधियों का ज्ञान कर लेते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"आरे की नोंक को तो हम अपने चर्म चक्षुओं से देख सकते हैं। जीवात्मा तो दिखायी नहीं देता।"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन्! आरे की नोंक से कहने का तात्पर्य बहुत ही सूक्ष्म से है। एक स्थान पर बताया है, कि बाल की सबसे ऊपर की छोटी-से-छोटी नोंक को काट लो उसके कैसे भी सौ टुकड़े और कर लो, उन सौ टुकड़ों में से एक टुकड़े को लेकर उसके भी सौ टुकड़े कर लो। अर्थात् बाल की नोंक के दश सहस्र भाग के सदृश जीवात्मा अत्यन्त सूक्ष्म है। यह भी उसका यथार्थ परिमाण नहीं है। दश-सहस्रवाँ भाग का तात्पर्य इतना ही समझना चाहिये, कि वह अत्यन्त सूक्ष्माति सूक्ष्म है।"

शौनकजी ने पूछा—"इतना सूक्ष्म होने पर वह जड़ और स्थूल शरीरों में रहता कैसे है ? वह ठहरा सूक्ष्मातिसूक्ष्म और चैतन्य। शरीर ठहरा स्थूल और जड। फिर वह चींटी के शरीर में और हाथी के शरीर में समान भाव से कैसे रहता है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! वह असीम है, अनन्तभाव से युक्त है। अर्थात् चींटी के शरीर में उसी के आकार वाला बनकर रहता है और हाथी के शरीर में वेसा ही बनकर विराजता है। वह जीव वैसे तो विभु है, सर्वव्यापक है, किन्तु शरीर में अहंता और शरीर सम्बन्धी पदार्थों मे ममता करने के कारण तथा गुणों में बँध जाने के कारण अपने को एक देशीय मानने लगता है। चींटी वाला जीव हाथी वाले जीव को भिन्न समझता है। यही अज्ञान है।"

शौनकजी ने पूछा—"जीव तो पुंल्लिङ्ग है। जिसमें जीवन हो वह जीव (जीवनम्+इति=जीव) किन्तु जब यह स्त्रीयोनि में जाता होगा, तो कैसे व्यवहार चलाता होगा ?"

हँसकर सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! आप कैसी हँसी की बात पूछ रहे हैं ? भगवन् ! जीव तो न पुंलिङ्ग है, न स्त्री लिङ्ग, न नपुंसक लिङ्ग। वह तो सभी भेदों से–समस्त उपाधियों से–सभी लिंगों से रहित विभु है। किन्तु जैसा शरीर होता है, उसमें रहकर जीवात्मा वैसा ही अपने को समझने लगता है। स्त्री, पुरुप तथा नपुंसक ये शरीरों के हैं। आत्मा–जीवात्मा तो अलिंगी है। आज पुरुप शरीर मे है, तो जावात्मा कहता है मैं आता हूँ, मैं जाता हूँ। दूसरे जन्म में वही जीव स्त्रीयोनि में चला जाता है, तब कहने लगता है, मैं आती हूँ, मैं जाती हूँ। जीव तो एक ही है, शरीर भेद से वह अहङ्कार के वशीभूत होकर वैसा ही अपने को मान बेठता है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! जीव तो चैतन्य है, विभु है अत्यन्त सूक्ष्म है। शरीर जड़ है, एक देशीय है, पृथ्वी आदि स्थूल पदार्थों द्वारा निर्मित है, फिर ये शरीर जड़ अपने आप बन कैसे जाते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! चैतन्य के बिना जड़ शरीर अपने आप बन कैसे जायँगे ? जब जड़ और चैतन्य दोनों मिल जाते हैं, तब शरीर भेद से एक स्त्री संज्ञक हो जाता है, एक पुरुष संज्ञक। दोनों के हृदय में संकल्प होता है, हम एक से बहुत हों। एक से बहुत तभी होंगे, जब दोनों मिलकर एक हो जायँ। जैसे आम का बीज है, वह पृथ्वी पर न पड़े, उसे खाद पानी न मिले तो वह एक से बहुत नहीं हो सकता। जब बीज स्त्री रूप पृथ्वी में एकाकार हो जायगा, तब उसमें से अंकुर फूट आवेगा। यदि भूमि उर्वरा हुई और पानी मिल गया तब। भूमि ऊसर हुई या पानी का अभाव हुआ तो बीज में से अंकुर उत्पन्न न होगा। अनुकूल हुआ तो उसका वृक्ष बन जायगा, एक फल से अनेकों फल हो जायँगे, फिर उन अनेकों फल में से प्रत्येक फल में अनेकों को उत्पन्न करने की शक्ति होगी। वह शक्ति विभक्त न होगी। जहाँ भी रहेगी अनन्त बनकर ही रहेगी। इसी प्रकार स्त्री और पुरुष जब एक होते हैं, संकल्प द्वारा एक दूसरे का स्पर्श करते हैं, एक दूसरे को देखते हैं, एक दूसरे से मोहित होते हैं, तो माता के उदर में अंकुर उत्पन्न होता है। वह अंकुर भोजन और जल के रस से वृद्धि को प्राप्त होता है। भोजन और जल वृष्टि द्वारा प्राप्त होता है, तो जीव से जीव बढ़ जाते हैं। यह आवश्यक नहीं कि सब जीवों के लिये संकल्प, स्पर्श, दृष्टि, मोह तथा वृष्टि ये सब साथ-ही साथ होनी ही चाहिये। कहीं-कहीं एक दो से ही काम चल जाता है। जैसे कछुआ की माता गर्भधारण

करती है, अंडे देकर अन्यत्र चली जाती है। प्रयाग मे अडे देकर वह हरिद्वार चली गयी तो हरिद्वार में बैठी-बैठी संकल्प से ही प्रयाग में स्थित अपने अंडों को सेती रहती है। उसके संकल्प से अंडे बढते रहते हैं, पकने पर फूटकर उसमें से बच्चे हो जाते हैं। सकल्प के ही प्रभाव से वे बच्चे बिना जाने हरिद्वार पहुँच कर अपनी माता से मिल जाते हैं। इस प्रकार केवल सकल्प द्वारा ही उनकी वृद्धि हो गयी।"

पक्षियों में आसक्ति पूर्वक स्पर्श होने से अडे बन जाते हैं, उन अंडों में से जीव उत्पन्न हो जाते हैं। मछली आदि आसक्ति पूर्वक देखने से ही पैदा हो जाती हैं। मनुष्य पशु आदि अन्न भक्षण करते हैं उनसे वीर्य बनता है। वीर्य से जीवों की उत्पत्ति होती है। बहुत से जीव वृष्टि होने पर अपने आप आकाश से गिरते हैं, जैसे गिजाये आदि। कुछ वृष्टि होने पर पृथ्वी को फोड़ कर निकलते हैं, जैसे वृक्ष, लता आदि। यह जीवात्मा भिन्न-भिन्न योनियों में मिलने वाले शरीरों मे भोगों को भोगता है, फिर उसे छोड़कर दूसरे शरीरों में चला जाता है।

यह तो मैं बता ही चुका हूँ, कि भिन्न भिन्न योनियों में कर्मानुसार इसका जन्म होता है, अपने कर्मो के कारण—सस्कारों तथा गुणों के कारण शरीरों मे आसक्ति हो जाती है। जीवात्मा अपने को शरीर ही समझने लगता है। शरीर सम्बन्धी जितने घर, क्षेत्र, वाहन, स्वजन तथा भृत्य वर्ग हैं सब में गहरी ममता कर लेता है। कभी स्थूल शरीर में चला जाता है, कभी चींटी, भिनगा आदि सूक्ष्म शरीरों में चला जाता है। जिस देह को स्वीकार करता है उसी में ममता वद्ध बन जाता है। वह सब देह-सयोग भगवत् प्रेरणा से ही होता है। इसका कारण दूसरा—परमात्मा—ही देखा गया है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! तब तो यह जीव का चक्कर कभी समाप्त ही न होगा। जिस योनि में जायगा उसी में कर्म करेगा और उनके फलों से आबद्ध होकर निरन्तर जन्मता मरता ही रहेगा? इस जन्म-मरण के चक्कर से छूटने का कोई उपाय भी है?"

सूतजी ने कहा—"उपाय क्यों नहीं है। यदि उपाय न होता तो जीव जीवन मुक्त या अमृत कैसे होते? यदि जीव भाग्यवश इस संसार रूपी दुर्गम स्थल के मध्य में व्याप्त उन अनादि अनन्त विश्वकर्ता विश्वेश्वर को जो अनेक रूपधारी हैं, जिन्होंने इस जगत् को चारों ओर से परिवेष्टित कर रखा है—घेर रखा है—उन एक देव को जान जाय, उसे भान हो जाय, कि कर्ता मैं नहीं। सबके कर्ता ये करुणासागर करुणेश ही हैं, तो बस इतना ज्ञान होते ही वह सभी प्रकार के पाशों से छूटकर बन्धन मुक्त होकर आवागमन से रहित बन जायगा।

बन्धन का कारण तो शरीरों का ग्रहण करना ही है। इन शरीरों को जीव तब तक ग्रहण करता रहेगा, जब तक अपने को कर्ता भोक्ता मानता रहेगा। जहाँ भावग्राही जनार्दन को जान गया, जहाँ सबके आश्रय-स्वयं आश्रय हीन उन अखिलेश को पहिचान गया, जहाँ भाव-अभाव, उत्पत्ति और प्रलय के कर्ता सोलह कलाओं के कर्ता शिव स्वरूप देवाधिदेव महादेव को जान गया, वहाँ शरीर के बन्धन से मुक्त होकर दिव्य बन जाता है, उसका जन्म मृत्यु का चक्कर सदा-सदा के लिये छूट जाता है। फिर उसे इस भवसागर में भटकना नहीं पड़ता। फिर उसे जन्मने और मरने से मुक्ति मिल जाती है।"

सूतजी कहते हैं—"इस प्रकार मुनियो! भगवद्भक्ति द्वारा जीव की मुक्ति और अहंता ममता के कारण इनकी पुनरावृत्ति

का वर्णन किया। अब आगे जैसे छटे अध्याय में जगत् का कारण बताकर इससे छुटकारे के साधनों का वर्णन करेंगे, उन सबको मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

( १ )

*बाल अग्र दश सहस भाग सम जीव कलपना।*
*है असीम नर नारि नपुंसक नहीं जलपना॥*
*जिन जिन देहनि जाइ होइ तद्रूप तिनहिँ में।*
*परस, दीठि, संकल्प, मोह, भोजन, जल जन में॥*
*बढ़त करम अनुसार पुनि, जन्मत विविध शरीर महँ।*
*क्रिया, आत्म, निज गुननितैं, थूल सूक्ष्म तन धरहिँ तहँ॥*

( २ )

*जिनिको आदि न अन्त विश्व सृष्टा मायापति।*
*जीव स्वतन्त्र न जन्म आदि महँ ईश्वर प्रेरित॥*
*रूप अनेकनि धारि विश्व घेरें चहुँ दिशितें।*
*जानि लेइ जिनि जीव मुक्त होवै बन्धन तैं॥*
*भावग्राह्य, आश्रय रहित, कारन सृष्टि सँहार के।*
*जानि देव कारक-कला, फँसैं फन्द नहिँ मृत्यु के॥*

इति श्वेताश्वतर उपनिषद् का पंचम अध्याय समाप्त

# सबके कर्ता एकमात्र परमेश्वर ही उपास्य हैं

[ २८२ ]

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥*

(श्वे० अ० उ० ६ अ० १ म०)

छप्पय

*कोइ स्वभाव कोइ काल जगत कारन बतलावें।*
*ये सब भूले लोग चक्र इक ब्रह्म घुमावें॥*
*महिमा जग महँ व्याप्त एक वे देव सनातन।*
*सबरे जग महँ व्याप्त काल के काल पुरातन॥*
*गुणी, सर्ववित, ईश–जग, करमनि संचालन करें।*
*सब भूतनिकूँ, वश रखें, ध्येय एक, ऋषि हिय धरें॥*

वेदों में समस्त शास्त्रों में एक ही प्रश्न बार-बार उठाया जाता है, इस जगत् का कारण कौन है ? वैसे तो इस विषय में

* कोई कविगण स्वभाव को, कोई काल को, जगत् का कारण कहते हैं। ऐसा कहने वाले सभी मोहग्रस्त हैं। क्योंकि वास्तविक बात तो यह है कि वह परब्रह्म परमात्मा एक ही देव हैं, जिसकी महिमा समस्त लोकों में फैली हुई है, उसी के द्वारा यह ब्रह्म चक्र जगत् चक्र घुमाया जा रहा है।

अनेक मत हैं, किन्तु प्रधान रूप से तीन ही मत मुख्य माने गये हैं। कर्म, स्वभाव और दैव। अब इन पर विचार कीजिये।

पहिले स्वभाव को ही ले लें। स्वभाव कहते हैं अपने आप होने वाले भाव को। उसे ही प्रकृति भी कहते हैं। ससिद्धि, स्वरूप, निसर्ग, भाव तथा सर्ग ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। स्वभाव को दुरतिक्रम हटाया न जाने वाला बताया है। यह जगत् स्वभाव से ही-अपने आप हो गया है, किसी ने इसे बनाया नहीं। जैसे सरदी, गर्मी, वर्षा अपने आप स्वभावानुसार हो जाती हैं। इसको किसी दूसरे कर्ता की अपेक्षा नहीं। स्वभाव मनुष्य का पूर्वकृत कर्मों के अभ्यास से हुआ करता है। जो जप करता है, उसका जप करने का स्वभाव बन जाता है, सोते समय भी उसका जप होता रहता है। मरने पर दूसरा शरीर ग्रहण करने पर भी मनुष्य स्वभावानुसार बिना सिखाये पढाये ही जप करने लगता है। इसी प्रकार जगत् का यह स्वभाव है—उत्पन्न होता है, कुछ काल रहता है, फिर नष्ट हो जाता है। अनादि काल से जगत् ऐसे ही चल रहा है। जो कर्मवादी हैं, उनका कहना है स्वभाव दैव ये सब स्वकृत कर्मों का ही परिणाम है। जैसा कर्म करोगे वैसा ही दैव (प्रारब्ध) बन जायगा। स्वभाव भी पूर्वकृत कर्मों से ही बनता है। अत· विश्व में कर्म प्रधान है, जो जैसा कर्म करेगा उसे वैसा फल मिलेगा। अपने पिता नन्दजी को भी इन्द्रयाग के समय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने कर्म को ही प्रधान बताया है। भगवान् ने कहा —'पिताजी! कर्म द्वारा प्राणी उत्पन्न होता है, कर्म के ही द्वारा विलीन हो जाता है। सुख, दु ख, भय, कल्याण सब कर्म से ही होते हैं। मान लो कोई ईश्वर हो भी तो वह ईश्वर भी कर्मों के अनुसार ही फल देता है। जो कर्म न करेगा उसे वह कुछ भी नहीं दे सकता। मनुष्य अपने स्वभाव के अधीन है।

देवता, असुर, मनुष्य सभी स्वभाव के अधीन होकर कार्य कर रहे हैं। जीव अपने कर्मों के अनुसार ही उत्तम, मध्यम तथा अधम योनियों में जाता है। कर्मानुसार ही संसार में शत्रु मित्र हो जाते हैं। इसीलिये कर्म ही सब कुछ है।" यहाँ भगवान् ने कर्मवाद या स्वभाव वाद को ही सिद्ध कर दिया।

कुछ लोग कहते हैं, जगत् की उत्पत्ति में काल ही कारण है। काल उसे कहते हैं जो बैठा-बैठा सबकी आयु को गिनता रहे। (कलयति आयुः-यः सः—कालः) अथवा जो सबको कर्म करने के निमित्त प्रेरणा प्रदान करता रहे। (कालयति—कर्म निमित्तं सर्वाणि भूतानि—इति-कालः)। देखो, काल आने पर ही सूर्य उदय हो जाते हैं। काल होने पर अस्त हो जाते हैं। काल आने पर बालक से युवक और युवक से वृद्ध हो जाते हैं। काल आने पर ही सर्दी, गर्मी तथा वर्षा होने लगती है। समस्त प्राणी काल के ही अधीन हैं, अतः जगत का एक मात्र कारण काल है।

किन्तु आस्तिक शास्त्रकारों का मत है, दैव कहो, कर्म कहो, स्वभाव प्रकृति कहो, काल कहो ये सब जड़ हैं। ये बिना सच्चिदानन्द घन परमात्मा के कुछ भी करने में समर्थ नहीं। जीव यद्यपि चैतन्य है फिर भी वह पराधीन है। स्वतः वह भी कुछ नहीं कर सकता। अतः जगत् के कर्ता, धर्ता तथा संहर्ता श्रीहरि ही हैं। उन्हें ही काल कहलो, कर्म कह लो अथवा दैव कह लो। उनके बिना जगत् के कार्यों को करने में कोई भी समर्थ नहीं। इसी विषय को श्वेताश्वतर उपनिषद् के अन्त में इस प्रकार बताया गया है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! सदा से यह प्रश्न सबके सम्मुख नित्य ही उठता है, जगत् का कारण क्या है?"

शौनकजी ने कहा—"हाँ, सूतजी ! हम भी यही जानना चाहते हैं, कि इस जगत् का कारण क्या है ?"

सूतजी ने कहा—"भगवन् ! इस विषय में भिन्न-भिन्न ऋषियों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कोई तो कहते हैं इस जगत् का कारण स्वभाव-प्रकृति-है। कुछ कहते हैं सब कुछ कालानुसार ही होता है।"

शौनकजी ने पूछा—"और लोग जो कहते हों, सो कहते हों, श्रुति का अभिप्राय क्या है ? इस सम्बन्ध में श्रुति क्या कहती है ?"

सूतजी ने कहा—"श्रुति का मत तो यह है कि जो लोग जड़ प्रकृति को, काल आदि को जगत् का कारण बताते हैं, ये सब मोह ग्रस्त हैं। आप ही सोचें जड बिना स्वतन्त्र चैतन्य की प्रेरणा से किसी वस्तु को उत्पन्न कैसे कर सकता है ?"

शौनकजी ने कहा—"कर क्यों नहीं सकते ? बिच्छू आदि मल-मूत्र के संयोग से अपने आप हो जाते हैं। बीज, जड़ पृथ्वी जल के संयोग से अंकुरित पुष्पित पल्लवित हो जाते हैं। रज वीर्य भी तो जड़ ही हैं। उनके संसर्ग से पुरुष उत्पन्न हो जाते हैं।"

सूतजी ने कहा—"वीर्य में चैतन्य छिपा रहता है। भुने हुए, उबले हुए बीज से कभी वृक्ष न होगा। ये जो सबके कर्ता, भर्ता, संहर्ता विधाता हैं, वास्तव में तो ये ही समस्त लोकों की उत्पत्ति में कारण हैं। इन्हीं सर्वान्तर्यामी की महिमा त्रिभुवन में व्याप्त है। यह ब्रह्म चक्र-संसार चक्र- उन्हीं के द्वारा घुमाया जाता है। उन्हीं के संकल्प से जगत् उत्पन्न होता है, स्थिर रहता है और विलीन होता है। वे सम्पूर्ण जगत् को अपने वश में रखते हैं। वे संसार के अणु और परमाणु में सदा सर्वदा व्याप्त रहते हैं।

काल उन्हीं की प्रेरणा से गणना करता है, वे ज्ञान स्वरूप हैं। काल के भी महाकाल हैं। उनमें अज्ञान का लवलेश भी नहीं। वे सर्वगुण सम्पन्न, सर्ववित् सबके शासक हैं। यह जगत् का कर्म उन्हीं की प्रेरणा से चल रहा है। ये कर्म के नियामक हैं। जो लोग कहते हैं पञ्चभूतों के परिणाम स्वरूप यह दृश्य प्रपञ्च स्वतः ही बन जाता है। वे मोह ग्रस्त हैं। जड़ पृथ्वी, जल, तेज, वायु, और आकाश स्वतः जगत को कैसे बना सकेंगे, जब तक इनका कोई शासक न हो, उनसे कर्म न कराये। ये पञ्चभूत उन परम-पिता परमेश्वर द्वारा शासित रहते हैं। इसीलिये संसार में ध्यान योग्य, चिन्तन योग्य, कीर्तन योग्य सच्चिदानन्द घन परमपिता परमात्मा ही हैं। अतः उन्हीं का चिन्तन करना चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"परमात्मा कर्तृत्व शून्य निराकाल निर्लेप निरञ्जन हैं? वे इस नाना भाँति के त्रिगुणात्मक जगत् की रचना कैसे करते हैं?"

सूतजी ने कहा—"भगवान कर्ता, नहीं योजक हैं। वे जीवात्मा का जड़ प्रकृति से संयोजन कराके इस जगत् का निर्माण कर देते हैं। जैसे प्रकृति है, जड़ हुई तो क्या हुआ, उसमें उन अनादि महापुरुष की अनादि शक्ति संनिहित है। उस शक्ति-भूता मूल प्रकृति से ही उन्होंने पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पञ्चभूतों की रचना की। रचना करने के अनन्तर उन्हें भली भाँति देखा, कि ये महाभूत ठीक ठाक बने हैं या नहीं। वैसे तो ये सभी पदार्थ जड़ थे, उनकी जो जीवरूपा दूसरी चैतन्य प्रकृति है, उसका जड़ प्रकृति से संयोग किया। दूध और पानी की भाँति गड्ड-मड्ड करके मिला दिया। इस मिली हुई लस्सी से-अथवा मिले हुए दाल चावल रूपी खिचड़ी से,

मिट्टी और पानी की कीच से भाँति-भाँति के रङ्ग रूप वाले पदार्थों की और जगत् की रचना की।

दूसरे लोग इसी बात को यों कहते हैं—"एक जो मूल प्रकृति है, जिसे माया कहो, अविद्या कहो उससे दो-पुण्य पाप-की रचना की। फिर तीन-सत्त्व, रज और तम-की रचना की। फिर काल की रचना की, तदनन्तर आठ-मन, बुद्धि, अहङ्कार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश-इनकी रचना की। फिर जीव के जो अहंता और ममता ये जो सूक्ष्म गुण हैं, तथा मनन, निश्चय, अहंकृति, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द इन सबका जीवात्मा से सम्बन्ध कराकर जड़ चैतन्य के सयोग से इस जगत् चक्र को चालू कर दिया। जैसे कोयला, जल, स्निग्धता आदि जड़ पदार्थ मिलाकर चालक चैतन्य किसी अधिकारी की आज्ञा से यन्त्रों को चालू कर देता है, वैसे ही भगवान् की आज्ञा से जड़ प्रकृति और चैतन्य प्रकृति (जीव) मिलकर भव प्रवाह को प्रारम्भ कर देते हैं।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! भगवान् की आज्ञा से जब जड़ चैतन्य के मिश्रण से यह जगत् चक्र चालू हो ही गया, तब तो अनन्त काल तक जीव का इस दो पाट की जड़ चैतन्यात्मक-चक्की में पिसते ही रहना चाहिये। इसका फिर उद्धार हो ही नहीं सकता।"

सूतजी ने कहा—"भगवन्! भोग योनि वाले जीवों को तो, जब तक भोग समाप्त नहीं हो जाते, तब तक पिसना ही है। किन्तु मनुष्य का एक नाम साधक भी है। इसलिये मनुष्य योनि पाकर मोक्ष के लिये प्रयत्न करना ही चाहिये।"

शौनकजी ने पूछा—"प्रयत्न कैसे करें? वह तो प्रकृति के

अधीन होकर अहंता ममता के वशीभूत होकर नाना योनियों में घूमता ही रहेगा ?"

सूतजी ने कहा—"अन्य योनियों की बात जाने दीजिये, हम तो मनुष्य योनि की–मनुष्यों में भी साधक मुमुक्षुओं की बात कह रहे हैं। मुमुक्षु साधक को चाहिये–जो-जो भी कर्म करे, वे कर्म चाहें सात्त्विक हों, राजस हों, अथवा तामस भी क्यों न हों उन कर्मों को आरम्भ करके, उन सभी कर्मों के भावों को–फलों को–परमात्मा में लगा दे। जो करे, जो खाय, जो हवन करे, जो दान दे, जो तपस्या करे, उसे ब्रह्मार्पण बुद्धि से करे कर्म करके कह दे–इदं विष्णवे इदं न मम। ये सब कर्म भगवान के लिये हैं, मेरे लिये नहीं।

इस प्रकार ब्रह्मार्पण विधि से किये हुए कर्मों का फल कर्ता जीवात्मा–को नहीं भोगना पड़ता, क्योंकि उनके फल तो भगवान को दे दिये हैं। अतः वे कर्म बिना फल के निष्फल बन जाते हैं। आगे क्रियमाण कर्म तो बनते ही नहीं, पिछले संचित कर्म भी–ब्रह्मार्पण बुद्धि से कर्म करने से नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार जब संचित और क्रियमाण कर्म समुदाय का सर्वदा नाश हो गया तब शेष रह जाते हैं प्रारब्ध कर्म। उन प्रारब्ध कर्मों को शरीर के अन्त होने तक अभिमान शून्य होकर भोगता रहे। संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण इन तीनों प्रकार के कर्मों के नाश हो जाने पर वह निष्काम कर्मयोगी साधक परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि चैतन्य जीवात्मा का जड़ प्रकृति से वास्तविक तो कोई सम्बन्ध है नहीं। वह तो प्रकृति से तत्वतः भिन्न है।

इसलिये स्वर्गादि की कामना से–सकाम भाव से–ब्रह्मार्पण बुद्धि से–उपासना समझकर–भक्ति भाव से उन्हीं अखिलेश

की अर्चा जानकर कर्म करने चाहिये। क्योंकि वे परमात्मा आदि कारण हैं, तीनो कालों से सर्वथा परे-त्रिकालातीत-हैं, अकल-कालातीत-हैं। प्रकृति पुरुष के संयोग के केवल निमित्त कारण हैं। वे कहीं दूर बसते नहीं, अपने ही अन्तःकरण में-हृदय की गुफा में- सोते रहते हैं। विराजमान रहते हैं। उनका कोई एक रूप नहीं, विश्वरूप हैं। भवभूत हैं, वे हरि स्वयं ही जगत् बन गये हैं, जगत् रूप हैं। वे ही भक्तिभावन हैं, परमोपास्य हैं, स्तुति, पूजा, अर्चा तथा उपासना करने योग्य हैं। पुराण पुरुष हैं, उनकी उपासना करने से जगत् बन्धन कट जायगा। उन्हें प्राप्त करना जीव का परम धर्म है, यही परम पुरुषार्थ है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस लोक में भगवत प्राप्ति की दो ही निष्ठायें हैं। कर्मयोगियों के लिये कर्मनिष्ठा, ज्ञान योगियों के लिये ज्ञाननिष्ठा। कर्म के दो भेद हैं, सकाम कर्म और निष्काम कर्म। सकाम कर्मों को करके तो स्वर्गादि पुण्य लोकों की प्राप्ति होती है, पुण्य क्षीण होने पर पवित्र श्रीमानों के कुलों में अथवा योगियों के कुलों में जन्म होता है, वहाँ शुभ सस्कारों के कारण पुनः शुभ कर्मों में प्रवृत्ति होती है, शुभ कर्म करके पुनः स्वर्ग जाते हैं। मीमांसक इसे ही परमपद या मुक्ति मानते हैं।

निष्काम कर्मयोगी फलों की इच्छा न रखते हुए कर्तव्य बुद्धि से प्रभु प्रीत्यर्थ भगवत सेवा पूजा समझ कर ही कर्म करते हैं। इसी को उपासना मार्ग या भक्ति मार्ग कहते हैं। कर्ममार्ग के ही सकामकर्म और निष्कामकर्म-कर्ममार्ग और उपासना-मार्ग ये दो भेद हैं। इसी को पहिली कर्मयोग की निष्ठा कहते हैं। अब दूसरी सांख्ययोग या ज्ञानयोग की जो दूसरी ज्ञान निष्ठा है उसके सम्बन्ध में श्रुति जैसे बतावेगी उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

—:—

छप्पय

( १ )

जड़ चेतनहिं मिलाइ देखि पुनि जगत बनावें।
एक और द्वै तीनि काल सँग आठ मिलावें॥
एक अविद्या पुण्य पाप द्वै सत्त्व रजहु तम।
आठ प्रकृति इक काल गुननि सँग जीव अहं मम॥
गड्ड-मड्ड सबकूँ करैं, जड़ चेतन ते जग करत।
भक्ति उपासन योग तैं, जगत बन्ध तमकूँ हरत॥

( २ )

जिनि जिनि करमनि करैं सत्त्व रज तामस होवैं।
ब्रह्मार्पण करि देइँ नहीं तिनिके फल जोवैं॥
सबहिँ समरपन करै न कर्ता निजकूँ मानै।
करत करावत वही उन्हें ई सब कछु जानै॥
करम समरपन भाव तैं, करैं बनें क्रियमाण नहिँ।
संचित करमनि नाश हो, प्राप्त होहिं प्रभु महँ तबहिँ॥

( ३ )

जो अनादि अखिलेश त्रिकालातीत अकल प्रभु।
जीव जड़हिं संजोग निमित वे हैं व्यापक विभु॥
तिनि निज चित में लखौ सतत तहँ जो इस्थित हैं।
विश्वरूप भगवान् जगत के रूप प्रकट हैं॥
इस्तुति करने जोग्य इक, पुरुष पुरातन एक हरि।
जीव! जगत जंजाल तजि, तिनि उपासना नित्य करि॥

—:—

## प्रभुप्राप्ति का उपाय शरणागति

### ( २८३ )

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुद भगेशं ज्ञात्वात्मस्थमृतं विश्वधाम ॥*

(श्वे० म० उ० ६ म० ६ म०)

**छप्पय**

*विश्वधाम भगवान् जगत जो सतत चलावत।*
*वृक्ष, काल आकृतिहु भिन्न-परमह्म कहावत॥*
*करें धरम की वृद्धि पाप को नाश करत हैं।*
*स्वामी सब ऐश्वर्य जगत संचालक नित हैं॥*
*तिनकूँ निज हिय जानिकें,अमृत होहिं नहिं मरहिं पुनि।*
*प्रभु परमेश्वर महेश्वर,जीव! तिनहिं सुनि सतत गुनि॥*

जिस साधन में, जिस देवता में, जिस व्यक्ति में स्वाभाविकी स्थिति हो जाय उसी का नाम निष्ठा है (नितरा तिष्ठति=इति+निष्ठा)। साधन सम्बन्धी लोक में कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा दो

---

* वह परब्रह्म परमात्मा वृक्ष (जगत्) काल और आकृति से परे है, उन्हीं परमात्मा से यह प्रपंच परिवर्तित हो रहा है। वे इन सबसे भिन्न हैं। वे धर्मरक्षक, पाप प्रणाशक, ऐश्वर्याधिपति तथा सम्पूर्ण विश्व के आधारभूत हैं। उन्हें जो हृदय मे स्थित जानकर उनकी उपासना करते हैं, वे उन अमृतस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

प्रकार की ही निष्ठा बतायी गयी हैं। कर्मनिष्ठा तो उसे कहते हैं जो साधन इन्द्रियों की सहायता से कर्म द्वारा मन से किये जायँ। ज्ञाननिष्ठा उसे कहते हैं जो साधन विशेष कर मन से-ध्यान चिन्तन किये जायँ।

कर्मनिष्ठा दो प्रकार की है, एक तो सकाम कर्मनिष्ठा, दूसरी निष्काम कर्मनिष्ठा। मीमांसकादि सकाम कर्मनिष्ठा के ही पक्षपाती हैं। वे कहते हैं एकमात्र कर्म यज्ञ ही है, यज्ञ के अतिरिक्त जो कर्म किये जाते हैं, वे बन्धन के कारण हैं, अतः स्वर्गादि पुण्य लोकों की कामना के निमित्त यज्ञ सम्बन्धी कर्मों को करते रहना चाहिये। उन सत्कर्मों से मोक्ष की (स्वर्ग की) प्राप्ति होती है। वे लोग स्वर्ग को ही मोक्ष कहते हैं और सत्कुल में योगियों के कुल में फिर जन्म लेने को बन्धन नहीं मानते। उनके यहाँ कर्मों का-यज्ञों का लक्ष्य-अन्तिम उद्देश्य-स्वर्ग की प्राप्ति ही है।

दूसरी निष्काम कर्मनिष्ठा है। ये भी यज्ञ-कर्म को ही-एकमात्र कर्तव्य कर्म मानते हैं। किन्तु ये केवल अग्नि में स्वाहा-स्वाहा को ही यज्ञ नहीं मानते। ये अग्नि में द्रव्यों के हवन को, तपस्या करने को, प्राणायामादि योगाङ्गों के अभ्यास को, मन्त्रों के जप सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय को, मन से परब्रह्म को मनन करने को इन सभी को यज्ञ के अन्तर्गत ही मानते हैं। निष्काम भाव से हवन, जप, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, समाधि, भगवान् के यश लीला आदि का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, सख्य तथा आत्मनिवेदन ये सबके सब निष्काम कर्मनिष्ठा के अन्तर्गत हैं। केवल भगवत् प्रीत्यर्थ जो भी सत्कर्म किये जायँ वे सब निष्काम कर्मनिष्ठा में आते हैं। वैदिक परिभाषा में इसका नाम उपासना है, पौराणिक परिभाषा में इसे भक्ति कहते हैं। जो-जो भी कर्म इन्द्रियों और अन्तः-

करण के द्वारा प्रभुप्रीत्यर्थ किये जायँ उन सबकी गणना निष्काम कर्मनिष्ठा के अन्तर्गत है।

ज्ञाननिष्ठा उसे कहते हैं कि कर्मों की अपेक्षा न करके संसार के सभी सम्बन्धों से विरक्त होकर, सभी वासनाओं का परित्याग करके ज्ञानपूर्वक अपने अन्तःकरण को भगवत् ध्यान में ही लगाये रखे। कर्मों को महत्व न दे। तो इसमें शंका होती है, कि यदि सब कर्मों को ज्ञानमार्ग उपासक छोड़कर निरन्तर विषयों से वैराग्य करके विवेक द्वारा सत् का निर्णय करके उसी के चिन्तन में निमग्न रहेगा, तो उसका शरीर कैसे चलेगा? भोजन, जलपान, स्नान शौचादि ये भी तो कर्म हैं। जब सभी कर्म बन्धन के कारण हैं, तो ज्ञाननिष्ठ जीवन धारण कैसे करेगा? इसके लिये कहा है केवल शरीर निर्वाह के निमित्त भिक्षा, स्नान, मलत्याग आदि कर्मों को करते हुए वह बन्धन में नहीं बँधेगा।

इस प्रकार कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा ये दो पृथक् पृथक् निष्ठायें हैं। निष्काम कर्मनिष्ठ साधक को जो गति प्राप्त होगी, वही ज्ञाननिष्ठ साधक को प्राप्त होगी। ये दोनों ही मार्ग मुक्ति देने वाले हैं, दोनों ही श्रेयस्कर हैं। वास्तव में तो दोनों एक ही हैं बालबुद्धि वाले अज्ञ पुरुष ही इन्हे पृथक्-पृथक् मानकर वाद विवाद किया करते हैं। जो विज्ञ हैं वे ऐसा कहते हैं—इन दोनों निष्ठाओं में से किसी एक में स्थित हो जाओ, किसी में भी स्थित रहो, फल दोनों का एक ही है। क्योंकि निर्गुण-सगुण, साकार निराकार तत्त्व तो वह एक ही हैं। कुछ लोग ज्ञाननिष्ठा को ही एकमात्र निष्ठा मानकर कहते हैं—कर्मों द्वारा पापों की निवृत्ति, उपासना द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि और ज्ञान द्वारा ही मुक्ति होती है, ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं। अतः कर्म उपासना ये

सहायक हैं ज्ञाननिष्ठा ही सर्वश्रेष्ठ निष्ठा है। ऐसा वे समन्वय करके एकमात्र ज्ञान को ही निष्ठा मानते हैं। यह ज्ञान की प्रशंसामात्र है, शास्त्र तो निष्काम कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा दोनों को समान मानता है, दोनों ही से मुक्ति होती है। जो स्थान निष्काम कर्मनिष्ठ को प्राप्त होता है वही ज्ञाननिष्ठ को। अन्तिम स्थिति दोनों की एक-सी है। दोनों को ही सर्वात्मभाव से परब्रह्म के आश्रित रहना पड़ता है। फिर चाहे उन्हें साकार मानो या निराकार। परब्रह्म परमात्मा एक ही हैं और दोनों निष्ठाओं द्वारा उन्हीं को प्राप्त किया जा सकता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! प्रभुप्राप्ति का उपाय बताते हुए भगवती श्रुति कहती है—"देखो, यह जगत् प्रपञ्च जिन परमात्मा के द्वारा अनादिकाल से निरन्तर चलता रहता है, इस संसार रूप वृक्ष से तथा काल, नाम रूपादि से परमात्मा भिन्न है। जो साधक धर्माचरण करते हैं, वे परमात्मा उनके धर्माचरण की वृद्धि करते हैं, उनके पापों का नाश करते हैं, वे षडैश्वर्यसम्पन्न सभी सम्पत्तियों के स्वामी हैं। जगत् के एकमात्र आधार हैं। ऐसे उन परब्रह्म परमात्मा को जो उपासना के द्वारा, विवेक वैराग्य द्वारा कैसे भी जान लेता है वह उन्हीं अमृतस्वरूप अखिलेश को प्राप्त होकर स्वयं अमृत बन जाता है।"

सर्वज्ञ ऋषियों का कथन है कि उन परमेश्वर परात्पर प्रभु महेश्वर को, जो देवताओं के भी परमदैवत हैं, जो समस्त पतियों के भी परमपति हैं, जो समस्त भुवनों के ईश्वर हैं, जो ईड्य हैं, स्तुति करने योग्य हैं, उन परात्परदेव को हम लोग जानते हैं। कैसे हैं वे देवाधिदेव! वे सर्वथा स्वतन्त्र हैं उनके ऊपर कोई शासक नहीं, नियंत्रणकर्ता नहीं, कार्य-शरीर-कारण बाह्य तथा अन्तःकरण से-रहित हैं। ये बड़े से-भी-बड़े हैं, उनसे बड़ा या

उनके बराबर भी कोई नहीं है। उनका ज्ञान, उनका बल, उनकी समस्त क्रियायें स्वाभाविकी हैं। उनकी पराशक्ति नाना प्रकार से सुनी जाती है।

वे तो सबके स्वामी हैं, किन्तु उनका कोई भी स्वामी नहीं है। वे स्वयं तो सबके शासक हैं, किन्तु उनके ऊपर शासन करने वाला कोई भी नहीं है। वे किसी प्रकार का चिन्ह, लिङ्ग, वेषभूषा धारण नहीं करते। वे सबके कारण हैं, उनका कोई कारण नहीं। वे समस्त कारणों के स्वामियों के भी स्वामी हैं। वे सबके जनक हैं–उत्पन्न करने वाले हैं–किन्तु उनका कोई जनक नहीं। वे कभी उत्पन्न ही नहीं हुए। फिर उनका जनक–अधिपति–स्वामी कोई कहाँ से होगा ?

जिन्होंने अपने ही मुख से निकाले तन्तुओं से–पदार्थों से–इस जगत् रूप जाल को बनाकर स्वभाव से ही अपने आपको अप्रकाशित करके घूँघट में छिपा रखा है वे परब्रह्म परमात्मा अपने परब्रह्म स्वरूप में हमें आश्रय प्रदान करें।

वे देवाधिदेव परमात्मा एक होकर भी अनेक रूपों से समस्त प्राणियों में छिपे रहते हैं। वे सर्वव्यापी हैं, सर्वभूतान्तरात्मा हैं, कर्माध्यक्ष हैं, सभी भूतों में निवास करते हैं, सबके साक्षी, चैतन्यस्वरूप तथा विशुद्ध गुणातीत–केवल निर्गुण–हैं। यद्यपि वे अकेले ही हैं, फिर भी बहुत से अक्रिय जीवों का शासन करते रहते हैं। एक ही बीज को विविध भाँति से उत्पन्न करके उन सब शरीरों पर सम्यक् प्रकार से शासन करते रहते हैं। जिनके मन को विकार की वस्तुएँ सम्मुख रहने पर भी विकृत नहीं बना सकतीं, ऐसे धीर-वीर पुरुष ही उन परमेश्वर को देख सकते हैं। जो बहुत से चेतन आत्माओं के समस्त कर्मफलों का विधान करते हैं। स्वयं नित्य हैं, चैतन्यस्वरूप हैं, जो सांख्य ज्ञान-मार्ग द्वारा–

योग कर्म मार्ग द्वारा जाने जाते हैं, सबके कारण और परमदैवत हैं उन्हें जानकर सभी प्रकार के पाशों से–समस्त बन्धनों से–वह *पुरुष मुक्त हो जाता है।*

वह परम प्रकाशवान् है, उसके यहाँ सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र विद्युत तथा तारे कोई भी प्रकाश फैलाने में समर्थ नहीं। फिर बेचारी अग्नि की तो बात ही क्या है। उस परम प्रकाश पुञ्ज के प्रकाशित होने पर उसी के प्रकाश से सभी प्रकाशित होते हैं, वे यदि प्रकाशित न हों, तो सूर्य चन्द्रादि प्रकाशहीन-अस्तित्व हीन हो जायँ। उसी परमात्मा के प्रकाश से यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है। वह प्रकाशस्वरूप-हंस-परमात्मा सम्पूर्ण भुवन के मध्य में एक अकेला ही प्रकाशित हो रहा है। वह जल में भी प्रकाशित है और जल में स्थित जो वडवाग्नि है उसमें भी प्रकाशित है। उसे जान कर यह मरणशील मर्त्यप्राणी अमर बन जाता है, मृत्यु उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। वह मृत्यु रूप संसार सागर से सदा के लिये पार हो जाता है। उसे जानने के अतिरिक्त संसार से पार होने का–दिव्यधाम की प्राप्ति का–दूसरा कोई अन्य उपाय है ही नहीं। वह परमात्मा विश्वस्रष्टा, विश्ववित्, आत्मयोनि, काल का भी काल, गुणेश तथा संसार मोक्ष स्थित तथा बन्ध का हेतु है। वह तन्मय है, अपने ही स्वरूप में सदा सर्वदा स्थित रहता है। वह समस्त भुवनों का गोप्ता, सर्वगत तथा सर्वसंस्थ–सभी में स्थित रहने वाला–है। इस जगत् का *नित्यशासक, उनके अतिरिक्त सम्पूर्ण संसार* पर शासन करने की सामर्थ्य किसी अन्य में है ही नहीं। उन ऐसे जगत् के शासक को प्राप्त करने के लिये अन्य कोई साधन ही नहीं। केवल एक ही साधन है कि उनकी शरण ग्रहण कर ले। अतः 'मैं मोक्षेच्छुक जीव उन्हीं की शरण में प्राप्त होता

हैं, उन्होंने पूर्वकाल में सबके बनाने वाले ब्रह्माजी को भी उत्पन्न किया था उन्हें वेदों का ज्ञान प्रदान किया था, उन आत्म बुद्धि प्रकाशक प्रभु के पादपद्मों की शरण लेने के अतिरिक्त उन्हें पाने का दूसरा उपाय कोई जगत् में है ही नहीं। वे प्रभु निरञ्जन हैं, निष्कल हैं, निष्क्रिय हैं, निरवद्य हैं, शान्त हैं, अमृत के परम सेतु हैं, निर्मल अग्नि के सदृश-दग्धेन्धन, अनल के सदृश-मल रहित हैं। उन परमात्मा को बिना जाने कोई चाहे कि हमारे दुःखों का अन्त हो जाय, तो उसका चाहना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार कोई चाहे कि इस सम्पूर्ण आकाश को हम मृग चर्म की भाँति लपेट कर बगल में दबा कर भाग जायँ। जैसे आकाश को चर्म सदृश लपेट कर भाग जाना असभव है वैसे ही परमात्मा को प्राप्त किये बिना दुखों का अन्त होना असमव है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह परब्रह्म परमात्मा का गूढज्ञान श्वेताश्वतर ऋषिजी के तपः प्रभाव से तथा परब्रह्म परमात्मा की असीम कृपा से प्राप्त हो सका है। विद्वान् लोग इसी के सहारे परब्रह्म को जान सके। उन्होंने ब्रह्म को जानकर ऋषि समुदाय से सेवित इस परम पवित्र ब्रह्म तत्त्व को आश्रमों के अभिमान से शून्य ऐसे उत्तम अधिकारियों को इस गूढ ज्ञान का भलीभाँति उपदेश दिया। यह परमगुह्य ज्ञान है, इसी का नाम वेदान्त है, यह वेद का अन्तिम भाग है। इसी का वर्णन समस्त उपनिषदों में किया गया है। इस ज्ञान के अधिकारी सभी नहीं। सब किसी को इसका उपदेश न देना चाहिये। साधना करते-करते जिसका चित्तशान्त हो गया हो उसको इसका उपदेश देना चाहिये। अशान्त पुरुष को इसका उपदेश न करो। जिससे भली भाँति परिचय न हो, उसे भी इसका उपदेश न देना चाहिये।

जो अपना सत् पुत्र हो अथवा आज्ञाकारी सत् शिष्य हो—समीप में रहने वाला अन्तेवासी हो, उसी को इसका उपदेश देना चाहिये। वे सत् पुत्र और सत् शिष्य कैसे हों ? जिनकी देव में पराभक्ति हो, जैसी परदेव में भक्ति हो वैसी ही भक्ति गुरुदेव में भी हो। उसी महात्मा के हृदय में इस गूढ़ ज्ञान का प्रकाश होता है। अनधिकारी के सम्मुख इसे कहो भी तो उसे कोई विशेष लाभ नहीं होता। अतः अधिकारी के सम्मुख ही इसका रहस्य प्रकाशित होता है। जिसके हृदय में पूर्ण श्रद्धाभक्ति है वही इस रहस्यमय-परमज्ञान विज्ञानमय-उपनिषद् का अधिकारी हो सकता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार यह उपनिषद् समाप्त हुई। अब मैं आगे अन्य उपनिषदों का संक्षिप्त सार ही आपसे निवेदन करूँगा। अब आप लोग कृपा करके ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् का सार सुनिये।"

छप्पय

( १ )

*तन, कारन तिनि नहीं, न उनि सम कोई जग में।*
*ज्ञान, क्रिया, बल, शक्ति बहुत दीखति रूपनि में॥*
*तिनि शासक पति नाहिँ न तिन्हि कछु चिन्ह दिखावै।*
*है करणाधिप अधिप नहीं तिनि जनक लखावै॥*
*मकरी जाल बनाइकें, विहरै ज्यों-त्यों शक्ति निज।*
*आच्छादित निजकूँ करै, है सबई तिनितैं अनुज॥*

( २ )

*सबके शासक एक बीजकूँ बहुत बनावें।*
*सब हिय बैठे रहत धीर साधकनि लखावें॥*

जे तिनिकूँ लखि लेइँ होइ सुख शाश्वत तिनिकूँ ।
औरनिकूँ नहिँ होइ अमृत हो लखि चेतन कूँ ।।
जीवनि करम भुगाइकें, एक, नित्य, चैतन्यमय ।
ज्ञान-करम पथतैं मिलहिँ, जानि छुटै दुख, बन्ध, भय ।।

( ३ )

रवि, शशि, ग्रह, नक्षत्र न बिजुरी तहाँ प्रकाशित ।
कैसे पहुँचे अगिनि प्रकाशित जग तिनितैं इत ।।
एक हंस जग म य प्रकाशित अनल सलिल महँ ।
जानि मृत्यु तिनि तरैं, गमन-पथ अन्य न जग महँ ।।
वही सर्वविद विश्वकृत, गुणी काल को काल है ।
प्रकृति जीव पति गुणनिपति जग थिति मुक्ति करात है ।।

( ४ )

ईश्वर, तन्मय, अमृत, अधिप, भुवननि को रक्षक ।
शासन सबपै करत अन्त में होवै भक्षक ।।
शासन तिनि बिनु अन्य जगत को, को करि सकि हैं ।
भज जनि वेद पढ़ाय शरन तिनि प्रभु की लइहैं ।।
निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, अज, अमृत, परम दोषनि रहित ।
परम सेतु, निरमल, अलख, सरन गहूँ श्रद्धा सहित ।।

( ५ )

चर्म सरिस आकाश बगल में भले दबावैं ।
किन्तु दुःख को अन्त शरन प्रभु बिनु नहिँ पावैं ।।
श्वेताश्वतर तप प्रभाव अरु देव कृपा तैं ।
जानि ब्रह्म बिद्वान सुसेवित ऋषि सघनि तैं ।।
आश्रम को अभिमान जिनि-के हिय में अब नहिँ रह्यो ।
तिनि अधिकारिनितैं तिननि, ब्रह्मज्ञान सम्यक कह्यो ।।

( ६ )

परम गुह्य यह ज्ञान कह्यो उपनिषद बतायो।
कहैं जाइ वेदान्त वेद अन्तिम दरसायो॥
देइ न जाइ अशान्त-चित्त सुत शिष्य न होवै।
गुरु अरु ईश्वर माहिँ भेद जा नेंक न जोवै॥
प्रभु में जाकी भक्ति जस, तस होवै गुरुदेव में।
दिव्य महात्मा पुरुष के, होइ प्रकाशित चित्त में॥

—०—

कृष्णयजुर्वेदीय श्वेताश्वतर उपनिषद् का
षष्ठ अध्याय समाप्त

—०—

श्वेताश्वतर उपनिषद् समाप्त।

—०—

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सहवीर्यं करवाव है।
तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषाव है॥
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

# ब्रह्मविन्दु, कैवल्य और जाबाल उपनिषद् सार

( २८४ )

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषय स्मृतम् ॥*

(ब्र० वि० उ० १ म०)

छप्पय

*मन के हैं द्वै भेद शुद्ध अरु अशुध कहावें ।*
*शुद्ध कामना रहित काम सँग अशुध बतावें ॥*
*मन ही कारन बन्ध मोक्ष को विषय भगावै ।*
*मन हिय में लय होइ मोक्ष सोई कहलावै ॥*
*घटाकाश घटनाश तैं, नाश न हो तन घट सरिस ।*
*होइ नाश अज्ञान तम, जीव ब्रह्म हों एकरस ॥*

ब्रह्मविन्दु उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषद् है, अथर्ववेद के अन्तर्गत होने से इसे अथर्ववेदीय भी कहते हैं। यह उपनिषद् बहुत छोटी है, इसमें सब २२ मन्त्र हैं। वे २२ मन्त्र चार भागों

---

* मनुष्यों के बन्धन तथा मोक्ष का एकमात्र कारण मन ही है। विषयासक्त मन बन्धन का कारण है और विषयों से रहित मन मोक्ष का कारण वेद शास्त्रों मे बताया गया है।

में विभक्त हैं। पहिले भाग के पाँच मन्त्रों में मन के शुद्ध और अशुद्ध दो भेद बताये हैं, काम सहित अशुद्ध और कामना रहित शुद्ध मन है। विषयासक्त मन बन्धनकारक, निर्विषय मन मुक्ति देने वाला है मुमुक्षु को मन को निर्विषय करना चाहिये। मन हृदय में स्थिर हो जाय, तो उसे उन्मनी भाव वाला मन कहा है, यही परमपद है, यही मोक्ष है। दूसरे प्रणव और परमात्मा भाग के पाँच मन्त्रों को एक ही बताया है। जो प्रणवातीत तत्त्व है वही ब्रह्म है। जिसे यह ज्ञान हो गया कि 'वह ब्रह्म अहं ही है' तो वह निश्चय हो ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है। यही जान ले कि विकल्प शून्य, अनन्त, हेतु तथा दृष्टान्तादि से रहित ब्रह्म है। वह ब्रह्म मैं हो हूँ। परमार्थता यही है कि बन्ध-मोक्ष, निरोध–उत्पत्ति शासन कुछ नहीं है, परमार्थतत्त्व एक ब्रह्म ही ब्रह्म है।

तीसरे भाग के पाँच मन्त्रों में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों पृथक् नहीं, एक आत्मा से ही इनका सम्बन्ध है। इन तीनों से जो अतीत हो गया है उस त्रिगुणातीत पुरुष का पुनर्जन्म नहीं होता। इस विषय में दृष्टान्त दिया है। असंख्यों घड़ों में असंख्य चन्द्रबिम्ब दीखते हैं, किन्तु चन्द्रमा तो एक ही है। इसी प्रकार एक ही ब्रह्म अनेक रूपों में दिखायी देता है।

दूसरा दृष्टान्त यह दिया कि महाकाश है, घट में, मठ में वह पृथक्-पृथक् दीखता है, घड़े के फूटने पर, या मठ के टूटने पर आकाश टूटता-फूटता नहीं। इसी प्रकार शरीरों के नष्ट होने पर आत्मा नष्ट नहीं होता। जीवात्मा जब तक माया से आवृत है तब तक वह हृदय कमल में बद्ध की भाँति रहता है। अज्ञान के नाश हो जाने पर जीव का, ब्रह्म का एकत्व दिखायी देने लगता है।

प्रथम खण्ड में महर्षि आश्वलायन समित्पाणि होकर ब्रह्माजी के समीप गये और वहाँ जाकर ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा की। इस पर ब्रह्माजी ने ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हुए उनसे कहा—"वेदान्त और त्याग-संन्यास-से यत्न करने वाले यति लोग-जिनका चित्त विशुद्ध बन गया है वे शरीर के अन्त में ब्रह्मलोक में जाकर कल्प के अन्त में मुक्त हो जाते हैं। वे परब्रह्म ध्यान से प्राप्त होते हैं। ध्यान कैसे करना चाहिये ? इस पर कहते हैं—"नित्य-कर्म से निवृत्त होकर, सीधा बैठकर, इन्द्रियों का निरोध करके भक्तिभाव से आश्रम के अभिमान को त्यागकर अपने हृदय कमल में उमा सहित प्रभु परमेश्वर त्रिलोचन नीलकंठ शिवजी का ध्यान करे और ऐसी धारणा को दृढ़ बनावे कि सबसे विलक्षण एकमात्र साक्षी चिन्मात्र शिव मैं ही हूँ। मुझी से इस सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय हो रही है। सब कुछ मैं ही हूँ। वेदों में अपाणि पादादि जिसे बताया गया है वह मैं ही हूँ। मुझे पुण्य-पाप स्पर्श नहीं कर सकते। पंचभूत कुछ नहीं हैं। जो कुछ है मैं ही मैं हूँ। अन्त में इस शतरुद्रिय का माहात्म्य बताते हुए कहा है—जो इस प्रकार अपने हृदयस्थ सदाशिव का ध्यान करता है, वह सभी पापों से छूटकर सदाशिव के आश्रित होकर अविमुक्त स्वरूप हो जाता है।

इस प्रकार इस उपनिषद् में आश्रमातीत परमहंस यतियों के लिये ध्यान के द्वारा-अहंमह उपासना द्वारा ध्यान की विधि तथा आत्मा का स्वरूप बताया गया है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो ! इस प्रकार कैवल्योपनिषद् का संक्षेप भाव बताया अब आप जाबाल उपनिषद् का सार सिद्धान्त सुनें।"

जाबाल उपनिषद् में ६ खण्ड हैं। इन छैःऊ में एक-एक

गाथात्मक मन्त्र हैं। यह सन्यासाश्रम प्रधान उपनिषद् है। इसमें पहिले खण्ड में बृहस्पति ने याज्ञवल्क्यजी से कहा—"कुरुक्षेत्र समस्त देवताओं का, सभी प्राणियों का ब्रह्मसदन है। इसलिये जहाँ भी यह पुरुष जाता है वहीं अविमुक्त क्षेत्र है। इस अविमुक्त क्षेत्र (वाराणसी) में जो प्राणों का परित्याग करता है, उस रुद्र-तारक ब्रह्म की प्राप्ति होती है, जहाँ यह अमृत हो जाता है। इसलिये अविमुक्त का ही निषेवन करना चाहिये। अविमुक्त का कभी परित्याग न करे।

दूसरे खण्ड में अत्रि मुनि ने याज्ञवल्क्य ऋषि से पूछा—"यह जो अनन्त अव्यक्त आत्मा है उसे हम कैसे जानें ?"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"भाई, अनन्त अव्यक्त आत्मा जो अविमुक्त में प्रतिष्ठित है वहाँ उपास्य है, उसी की उपासना से तुम अव्यक्त अनन्त आत्मा को जान सकोगे ?"

प्रश्न यह है, कि वह अविमुक्त किसमें प्रतिष्ठित है ?"

कहते हैं—"वह वारणा और नासी के मध्य में प्रतिष्ठित है (इसीलिये उस अविमुक्त क्षेत्र को वाराणसी कहते हैं)।

अब प्रश्न यह है—"कि वारणा क्या, नासी क्या ?"

तब कहते हैं—"जो सम्पूर्ण इन्द्रिय कृत दोषों का निवारण करे वह वारणा है और जो समस्त इन्द्रियकृत पापों का नाश कर दे वह नासी है।"

अब प्रश्न करते हैं—"वह वाराणसी कौन सा स्थान है ?" तो बताते हैं—"वह स्थान है नासिका और भौंहों की जहाँ सन्धि होती है। दोनों भौंहों के बीच के स्थान का नाम वाराणसी है। यही द्यौलोक और परलोक का सन्धि स्थान है। जो ब्रह्मविद् सन्ध्या के समय में इस सन्धि स्थान में ब्रह्म की उपासना करता

है, यही अविमुक्त उपासना है। इस उपासना द्वारा उसे अविमुक्त ब्रह्म की प्राप्ति होती है।"

तीसरे खण्ड में ब्रह्मचारियों ने याज्ञवल्क्यजी से पूछा—"किसके जप से अमृतत्व की प्राप्ति होती है ?"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"शतरुद्रिय जो है वही अमृत नामधेय वाली है, इसी के जप से अमृत होता है।"

चौथे खण्ड में जनक ने जाकर याज्ञवल्क्यजी से प्रश्न किया – "भगवन् ! मुझे बताइये संन्यास क्या है ?"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"क्रम से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रमों को समाप्त करके संन्यासाश्रम में प्रवेश करे। नहीं तो ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यास ले ले अथवा गृही, वानप्रस्थी कैसी भी अवस्था हो, जब भी संसार से पूर्ण वैराग्य हो जाय, तभी संन्यास ग्रहण कर ले। संन्यासाश्रम में सविधि अग्निहोत्र का परित्याग किया जाता है। प्राण ही अग्नि है, इसलिये प्राणों में ही प्राण का परित्याग कर दे। 'अयं ते' इस मन्त्र से अग्नि को प्राणों में पी जावे। कह दे–हे अग्नि तुम भी प्राण हो, प्राणों में जाकर मिल जाओ। ग्राम से लाकर पूर्ववत हवन करके अग्नि को सूँघकर प्राणों में उसे मिला दे। अग्नि प्राप्त न हो तो जल में ही हवन करे। क्योंकि जल तो सर्व देवमय है। 'ॐ सर्वाभ्यो' इस मन्त्र से जल में हवन करके उस आज्य सहित हवि को निकाल कर खा ले। ये तीनों मोक्ष के मन्त्र हैं। अर्थात् इन तीन मंत्रों से समस्त तीनों गुणों का परित्याग करके त्रिगुणातीत निरग्नि संन्यासी बनकर ब्रह्म की उपासना करे।"

पाँचवें खण्ड में उन्हीं महर्षि याज्ञवल्क्यजी से महर्षि अत्रि ने पूछा —"याज्ञवल्क्यजी ! जिसके पास यज्ञोपवीत नहीं है, वह ब्राह्मण (ब्रह्मवित्) कैसे हो सकता है ?"

इस पर याज्ञवल्क्यजी ने कहा—"देखो, भैया अत्रि ! इस परिव्राजक संन्यासी का यही यज्ञोपवीत है, जो आत्मा को जानकर उसे-अग्नि को पी जाय। शरीर में ममता न रखे। या तो वीर संन्यास ले ले। बिना कुछ खाये पीये जब तक शरीर शिथिल होकर गिर न पड़े तब तक उत्तराखण्ड की ओर चलता ही चला जाय, इसी का नाम वीर सन्यास है। अथवा बिना कुछ खाये अनशन करके शरीर को त्याग दे। अथवा जल में प्रवेश करके शरीर का परित्याग कर दे। अथवा अग्नि में प्रवेश कर जाय, अथवा महाप्रस्थान करे हिमालय में जाकर गल जाय। अथवा परिव्राजक बन जाय।"

परिव्राजक के चिन्ह क्या हैं ?"

इस पर कहते हैं—"उसके वस्त्र विचित्र वर्ण के या वर्ण रहित हों-वल्कल वस्त्र-सिर मुण्डित हो। किसी भी वस्तु का परिग्रह न करे—सर्वस्व का परित्याग कर दे। भीतर बाहर से पवित्र रहे। किसी भी प्राणी से द्वेष न करे। केवल प्राण-रक्षा के निमित्त भिक्षा पर निर्वाह करे। ऐसा ब्राह्मण ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। यही उसका यज्ञोपवीत है।"

एक आतुर संन्यास होता है। शरीर मरणासन्न हो गया, तो मन के द्वारा सर्वस्व त्याग करके केवल वाणी से कह दे—"मैं सन्यासी हो गया।" यही ब्रह्मविदों का पन्था है। संन्यास ब्रह्मवेत्ता का नाम है।"

अब प्रश्न होता है परमहंस किसे कहते हैं —"इसका उत्तर छठे खण्ड में दिया गया है, कहते हैं संन्यासी तो इतनी वस्तुएँ धारण करता है। त्रिदण्ड, कमंडलु, भिक्षा के लिये शिक्य छींका, पात्र, जलपवित्र, शिखा और यज्ञोपवीत। किन्तु परमहंस इन सबको भी नहीं रखता। वह इन सबको "ॐ भूः स्वाहा" कह-

कर जल में फेंक देता है। केवल आत्मचिन्तन में ही सदा सर्वदा निमग्न रहता है। वह विधि निषेध से परे हो जाता है। जैसे अग्नि अपरिग्रही, जाज्वल्यमान होकर रहता है, वैसे ही वह परमहंस ब्रह्मतत्त्व मार्ग में सम्यक् सम्पन्न निर्द्वन्द्व, निष्परिग्रह तथा शुद्ध मन वाला होकर अप्रतिहत गति से विचरण करता रहता है। प्राणों के रक्षार्थ कभी भिक्षा माँग लेता है। भिक्षा मिल जाय तो भला, न मिले तो भला। वह भिक्षा मिलने से प्रसन्न नहीं होता, न मिलने से अप्रसन्न नहीं होता। लाभ में, अलाभ में, जय-पराजय में वह सदा समभाव से बना रहता है। उदर ही उसका पात्र होता है। जो उसे भिक्षा में मिलता है उसे उदर में रख लेता है। न कोई पात्र, न वस्त्र, न चिन्ह, न लिंग। अलिंग होकर इच्छापूर्वक बिना संकल्प के विचरता रहता है। कोई टूटा-फूटा खाली घर मिल जाय उसमें रह जाता है। कोई मन्दिर, झोंपड़ी, दीमक का ढेर मिले उसमें पड़ा रहता है। नहीं किसी वृक्ष के नीचे, कुम्हार के अवा के समीप, अग्निहोत्रशाला, नदी के किनारे, पर्वत की गुफा, पत्थर के नीचे अर्थात् जहाँ भी कहीं स्थान मिल जाय वहीं पड़ जाता है। वह अपने लिये कोई एक स्थान न बनाता है, न निश्चित करता है। अनिकेतन होकर विचरता रहता है। ऐसे परमहंस-संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, जड़भरत, दत्तात्रेय तथा रैवत आदि अनेक महात्मा पुरुष हो चुके हैं। इन सबको ही परमहंस कहते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस प्रकार मैंने आपसे ब्रह्मविन्दु, कैवल्य और जाबाल उन तीन उपनिषदों का सार सिद्धांत सुनाया। अब आप हंस, आरुणि, गर्भादि उपनिषदों का सार आगे सुनेंगे।"

## छप्पय

( १ )

वह परात्पर तत्त्व त्याग अरु ध्यान प्राप्त है।
उनितैं सब उत्पन्न सबहिं में ब्रह्म व्याप्त है॥
वे ई त्रिगुण त्रिदेव अवस्था तीनि युक्त हैं।
सत असत्य तैं परे हिये थित लखें मुक्त हैं॥
परमहंस अविमुक्त बनि, भवसागर तरि जात हैं।
यही मुक्ति कैवल्य है, प्रभु "कैवल्य" कहात हैं॥

( २ )

जाबालहु उपनिषद क्षेत्र अविमुक्त बतावै।
है अविमुक्त उपास्य अनंत अव्यक्तहिं पावै॥
वाराणसि भ्रू मध्य जपै शतरुद्रिय साधक।
संन्यासी बनि जपै होइ नहिं पुनि जग बाधक॥
परिब्राजक, त्यागी, यती, मुण्डी, आतुर-मृतक वत।
परमहंस मुनि दिगम्बर, विधि निषेध तैं परें नित॥

( ३ )

सवर्तक, मुनिदत्त आरुणी ऋष दुर्वासा।
श्वेतकेतु, जडभरत, नहीं जिनि जगकी आशा॥
रैवत और निदाघ महामुनि ऋभु बड़ ज्ञानी।
परमहंस ये भये अन्य हू मुनि विज्ञानी॥
विधि निषेध तें परें सब, हैं अतीत आश्रमनि तैं।
इनिको जे सुमिरन करें, होहिं मुक्त ते जगत तैं॥

इति ब्रह्मविन्दु, कैवल्य और जाबाल
उपनिषद् सार समाप्त

—:—

# हंस, आरुणिक और गर्भ उपनिषद् सार

( २८५ )

ब्रह्मचारिणे शान्ताय दान्ताय गुरुभक्ताय ।
हंस हंसेति सदाऽयं सर्वेषु देहेषु व्याप्तो वर्तते ॥*
(हंसोपनिषद्)

**छप्पय**

*हंस परम है मन्त्र सर्वदा जीव जपत है ।*
*रात्रि दिवस इक्कीस सहस छै सौ निकसत है ॥*
*हृदय अष्ट दल कमल हंस आत्मा तहँ ध्यावै ।*
*अष्टदलनि मति आठ मनहिँ तैं अशुभ भगावै ॥*
*जपतैं होवै नाद पुनि, होइ नाद दश भाँति को ।*
*चिणी, चिचिणी घंट अरु, शंखहु तन्त्री नाद को ॥*

यह जो हम स्वास लेते हैं इसमें बाहर को जो स्वास निकलती हैं, इसमें 'हं' शब्द होता है । फिर भीतर जो प्रस्वास जाती है उसमें 'स' शब्द होता है । इस प्रकार 'हंस' इस अजपा गायत्री मंत्र को जीव सदा सर्वदा जपता रहता है । इसी का वर्णन हंसोपनिषद् में किया गया है ।

---

* हंस परमहंस निर्णय की व्याख्या करते हैं—"जो ब्रह्मचारी, शान्त, दान्त तथा गुरुभक्त हो उसके लिये इस ज्ञान को देना चाहिये । हंस-हंस यह जो मन्त्र है यह सदा सर्वदा समस्त देहों में व्याप्त रहता है ।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! हंसोपनिषद् बहुत छोटी किन्तु बहुत महत्व की गद्यात्मक उपनिषद् है। पहिले भाग में तीन, दूसरे में दो गद्यात्मक मंत्र हैं। महामुनि गौतम ने महर्षि सनत् सुजातु से पूछा –"ब्रह्मन् ! आप समस्त धर्मों को जानने वाले सभी शास्त्रों में पारंगत हैं, आप कृपा करके यह बात बता दें कि ब्रह्मविद्या का प्रबोध किस उपाय से हो ?" इस पर सनत् सुजातु महर्षि ने कहा—"देखो, भैया गौतमजी ! महादेवजी ने समस्त वेदों का मत जानकर उसका सार पार्वतीजी से कहा था। उसी तत्व को मैं तुमसे कहता हूँ। यह योगियों का परमधन है, बड़ा गुप्त है। यह जो हंस की गति का विस्तार है यह भुक्ति मुक्ति दोनों का देने वाला है। अनधिकारी को इसे नहीं देना चाहिये। अब हंस परमहंस निर्णय हम तुमसे कहते हैं। इसे शान्त, दान्त, गुरुभक्त ब्रह्मचारी को ही देना चाहिये। यह जो हंस 'हंस' मंत्र है सदा सर्वदा सभी शरीरों में व्याप्त रहता है। कैसे व्याप्त रहता है। जैसे काष्ठ में सदा अग्नि व्याप्त रहती है, किन्तु वह दीखती नहीं। तिलों में तैल सदा व्याप्त रहता है, किन्तु स्थूल दृष्टि से दृष्टिगोचर नहीं होता। जो इस रहस्य को जान लेता है, वह मृत्यु को जीत लेता है।"

देखो, गुदा में एक मूलाधार नाम का चतुर्दल वाला कमल है। वहाँ कुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन चक्कर शिवलिङ्ग के लगाकर अपनी पूँछ से सुषुम्ना नाड़ी के मुख को रुद्ध करके सोती रहती है। वहाँ से बलपूर्वक वायु से उस कुण्डलिनी को जगाकर वायु को स्वाधिष्ठान-चक्र जो (लिङ्ग) में है उसमें लाये फिर मणिपूर्वक नाभि में लाये, फिर अनाहत-चक्र जो (हृदय में है) उसमें लाये। फिर विशुद्ध चक्र (जो कंठ में है) उसमें प्राणों को भली प्रकार रोककर दोनों भौंहों के बीच में जो दो दल वाला आज्ञा चक्र है,

ध्यान करे, फिर शनैः-शनैः उस वायु को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर ध्यान करे। 'अहंम्' इसी का ध्यान करे। नाद ही आधार जिसका ऐसे शुद्ध स्फटिकमणि के सदृश प्रकाश वाले परमात्मा परब्रह्म का ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करे। फिर वहाँ मन से इस अजपा गायत्री का ध्यान करे। इस अजपा गायत्री का ऋषि तो हंस है। अव्यक्त गायत्री ही इसकी छंद है। परमहंस देवता है। 'हम्' बीज है। 'सः' शक्ति है। 'सोऽहम्' यह कीलक है। दिन-रात्रि में ६ चक्रों द्वारा यह मंत्र इक्कीस सहस्र छै सौ जपा जाता है। इसके अंगन्यास करन्यास ६-६ होते हैं। अंगन्यास, (१) हृदय, (२) सिर, (३) शिखा, (४) कवच, (५) नेत्र, (६) सर्वाङ्ग अस्त्र। करन्यास हाथों की पाँच उँगलियाँ और करतल पृष्ठ। इस प्रकार (१) सूर्य, (२) सोम, (३) निरंजन, (४) निराभास, (५) तनु सूक्ष्म प्रचोदयात् पाँच ये अग्नि और सोम इन वौपट् इनके द्वारा अंग और करन्यास कर ले। इस प्रकार इनमें चतुर्थी और नमः लगाकर अन्त में वौपट् करके पहिले अंगन्यास करे फिर करन्यास कर ले।

इतना सब करके हृदय में जो अष्टदल वाला कमल है, उसमें हंस आत्मा का ध्यान करे। यह हंस कैसा है ? इसके अग्नि और सोम ये दो पंख हैं। ओंकार इसका शिर है। ओंकार में जो बिन्दु है वह नेत्र और मुख है, रुद्र और रुद्राणी चरण तथा बाहु हैं। काल और अग्नि उभय पार्श्व हैं। अनागार और शिष्ट उभय पार्श्व में हैं। यही परमहंस है। करोड़ों सूर्यों के सदृश इसका प्रकाश है, इसी के द्वारा यह व्याप्त है। जिस अष्टदल कमल में यह स्थित है, उसकी वृत्ति आठ प्रकार की होती है। कमल के आठ दलों में से जो पूर्वदल का कमल है उसमें पुण्यमति होती है। अग्निकोण में निद्रा तथा आलस्य, दक्षिण में

क्रूरमति, नैऋति कोण मे पापमति, पश्चिम में क्रीडामति, वायव्यकोण में गमनादिमति, उत्तर में रतिप्रीतिमति, ईशानकोण में द्रव्यादानमति। कमल की कर्णिका का जो मध्यभाग है उसमें वैराग्य, कमल की जो केशर है उसमें जाग्रत अवस्था होती है। कर्णिका में स्वप्नावस्था, लिङ्गभाग में सुषुप्ति अवस्था और पद्म त्यागने में तुरीय अवस्था होती है। जब 'हंस' नाद में लीन होता है, तो उस अवस्था का नाम तुर्यातीत अवस्था है। उसी को उन्मनन कहते हैं। वहाँ पर जप का उपसंहार हो जाता है, अर्थात् अजपावस्था हो जाती है। उस अवस्था में जप होता भी नहीं-जप की आवश्यकता भी नहीं रहती। इस प्रकार सभी कुछ हंस के वश में है। इस प्रकार मन से विचार करना चाहिये। जपकोटि होने पर नाद का अनुभव होता है। इस प्रकार सब कुछ हंस के ही वश में है। वह नाद (अनहद शब्द) दश प्रकार का होता है। पहिले चिणी चिणी शब्द होता है। दूसरा नाद चिञ्चिणी चिञ्चिणी ऐसा होता है। तीसरे घंटा की भाँति नाद सुनाई देता है। चौथा शङ्ख के समान, पाँचवाँ वीणा नाद के सदृश, छठा शब्द ताल के समान नाद, सातवाँ वेणु के समान नाद, आठवाँ मृदंग के समान नाद, नववाँ भेरी के समान नाद और दशवाँ-मेघ के सदृश नाद-शब्द सुनायी देता है। नौ शब्दों का परित्याग कर दे। दशवाँ जो मेघ गम्भीर नाद हो तो उसी का अभ्यास करे-अर्थात् उस नाद में मन को लगाकर उसी का श्रवण करता रहे। नाद सुनते सुनते प्रथम नाद में तो देह में चिञ्चिणी-चुनचुनाहट-होने लगेगी। दूसरे में शरीर फटने सा लगेगा, तीसरे में खेदित सा होगा। चौथे में सम्पूर्ण शरीर में कँपकपी छूटने लगेगी, पाँचवें में तालु में से अमृत स्रवने लगेगा। छठे में अमृत सेवन होगा। सातवें में गूढ विज्ञान होने लगेगा।

आठवें में परावाचा हो जायगी। नवें में यह स्थूल देह अदृश्य होने लगेगी और दिव्यचक्षु तथा सम्पूर्ण शरीर मलरहित हो जायगा। दशवें में वह परब्रह्म परमात्मा की सन्निधि में हो जायगा। उन परमात्मा में मन के लीन होने पर यह संकल्प विकल्पात्मक मन संकल्प विकल्प से रहित विशुद्ध हो जायगा। फिर न पुण्य रहेंगे न पाप। तब उसे सर्वत्र सदाशिव, शक्त्यात्मा, सर्वत्र अवस्थित, स्वयं ज्योति, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, निरंजन, शान्त ब्रह्म का ही प्रकाश दिखायी देगा। यही वेद का वचन हो, यही प्रणव, ओंकार वेद का वचन है।

सूतजी कह रहे हैं—"इस प्रकार यह अथर्ववेद की उपनिषद् समाप्त हुई। इसका पूर्णमद यह शान्तिपाठ है। अब आप आरुणिक उपनिषद् के सार को श्रवण करें।"

आरुणिक उपनिषद् को कोई अथर्ववेदीय कोई सामवेदीय भी मानते हैं। इसका आप्यायन्तु यह शान्तिपाठ है। इसमें ५ ही गद्यात्मक मन्त्र हैं। इस उपनिषद् को ब्रह्माजी ने आरुणि मुनि से कहा है।

एक बार महर्षि अरुण के पुत्र महामना आरुणि अपने तपः प्रभाव से ब्रह्मलोक में गये। वहाँ जाकर उन्होंने ब्रह्माजी को प्रणाम किया और नम्रता के साथ प्रश्न किया—"भगवन्! आप मुझे उपदेश करें मैं सम्पूर्ण कर्मों का भली प्रकार त्याग कैसे करूँ?"

इस पर ब्रह्माजी ने कहा—"संसार में बाँधने वाले जितने भी सम्बन्ध हैं, जैसे पुत्र हैं, भाई-बन्धु, सगे-सम्बन्धी हैं। शिखा, यज्ञोपवीत, यज्ञ, स्वाध्याय जपादि जितने पुण्यप्रद तथा अपुण्यप्रद कार्य हैं, ऊपर के भू, भुव, स्व, मह, जन तप तथा सत्यादि लोक हैं, नीचे के जितने अतल, वितल, तलातल, सुतल, रसा-

तल, महातल और पातालादि लोक हैं, इन सबको तथा कहाँ तक कहें सम्पूर्ण विश्वब्रह्माण्ड को त्याग दे। केवल दण्ड, आच्छादन और कौपीन रखे। शेष सभी को छोड़ दे। ब्रह्मचारी, गृहस्थ या वानप्रस्थ जो भी सन्यास ग्रहण करे-कर्मों का प्रतीक जो यज्ञोपवीत है उसका भूमि में परित्याग कर दे अथवा जल में बहा दे। अग्निहोत्र जो नित्य नियम से धर्म मानकर करता था उनकी जो तीन-गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि-अग्नियाँ हैं उन्हें अपनी जठराग्नि में स्थापित कर ले। जिस गायत्री मन्त्र का सदा जप करता था उसे वाणीरूपी अग्नि में स्थापित कर ले। कुटीचर ब्रह्मचारी कुटुम्ब का परित्याग कर दे। पात्र को, पवित्री जो कुशाओं को सदा धारण किये रहता था उनको भी छोड़ दे। दण्डों को, लौकिक अग्नियों को भी छोड़ दे। अर्थात् अपने हाथ से भोजन भी न बनावे। जैसे मन्त्रहीन लोग आचरण करते हैं, वैसा आचरण करे। हमें स्वर्गादि ऊर्ध्वलोकों की प्राप्ति हो इस इच्छा का भी परित्याग कर दे। तीनों सन्ध्याओं के पूर्व स्नान किया करे, सधिकाल में समाधि में स्थित होकर आत्मचिन्तन किया करे। सम्पूर्ण वेदों में जो आरण्यक भाग है या उपनिषद् भाग है-उन्हीं का पाठ मनन तथा पुनः पुनः उनकी आवृत्ति करता रहे। मैं ही ब्रह्म का सूत्र-ब्रह्म को सूचित करने वाला यज्ञोपवीत हूँ, ऐसा निश्चय करके तीन सूत्रों वाला जो बाहरी यज्ञोपवीत है उसका परित्याग कर दे। इस प्रकार जो विद्वान् तपस्या और सत्कर्मों से पवित्र हो चुका है, वह तीन बार कहे—'मैंने संन्यास ले लिया है।' इस प्रकार तीन बार कहकर फिर कहे—'मेरे से सभी प्राणी अभय हो जायँ। अब कोई भी जीव-जन्तु मुझसे भय न करें। क्योंकि अब मेरा पृथक अस्तित्व नहीं। सम्पूर्ण विश्व मुझसे ही प्रवर्तित होता है।' फिर

अपने दण्ड से कहे—'हे दण्ड ! तुम मेरे सखा हो, मेरे ओज की रक्षा करो। हे वज्र ! तुम इन्द्र के वज्र हो। वृत्तासुर को मारने वाले हो, मुझे कल्याण-सुख-प्रदान करो। यदि मुझमें कोई पाप प्रवृत्ति हो तो तुम उसका निवारण कर देना।"

इस मन्त्र से अभिमन्त्रित करके बांस का दण्ड और कौपीन को धारण कर ले। अन्न को औषधि के सदृश खाय- स्वाद के लिये कभी कोई वस्तु न खाय-जैसे रोग निवृत्ति के लिये अल्प मात्रा में औषधि खायी जाती है वैसे ही भूख की निवृत्ति के निमित्त अल्प (केवल आठ ग्रास) अन्न खाय। ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह तथा सत्य की दृढ़ता पूर्वक-पूर्ण प्रयत्न के सहित-रक्षा करे।"

ब्रह्माजी कह रहे हैं—'हे आरुणि ! तुम इन सब नियमों की रक्षा करना, अवश्य रक्षा करना, दृढ़ता के साथ रक्षा करना भला। ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह और सत्य का संन्यास मत करना। अब जो परमहंस परिव्राजक ब्रह्मचारी हैं उनको पृथ्वी पर ही आसन लगाकर सोना तथा बैठना चाहिये। उनके पात्र मिट्टी के, या लौकी की तूबी के अथवा काष्ठ के हों। ऐसे ब्रह्मचर्य-व्रती संन्यासियों को काम, क्रोध, हर्ष, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, इच्छा, परनिन्दा, ममता तथा अहङ्कारादि दुर्गुणों का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये। आठ महीने तक तो एकाकी अथवा एक और के साथ विचरण ही करता रहे। वर्षा के चार महीने एक स्थान में रहकर चातुर्मास्य नियम पालन करे।"

ब्रह्माजी कह रहे हैं—"इस प्रकार जिस विद्वान् को संन्यासी होने की इच्छा हो, वह यज्ञोपवीत संस्कार हो जाने के अनन्तर (अथवा पूर्वजन्मों के संस्कारवश शुकदेवजी की भाँति यज्ञोपवीत के पूर्व भी) संन्यास को धारण करे। माता, पिता, पुत्र, अग्नि-

होत्र, उपवीत, समस्त कर्मों को, पत्नी आदि समस्त सम्बन्धियों को अथवा और जो भी कुछ संग्रह सम्बन्धी हो सबका परित्याग कर दे। संन्यासी को चाहिये कि वह पात्र भी न रखे, वह करों को अथवा उदर को ही पात्र बना ले। इन पात्रों के सहित भिक्षा माँगने गाँव में जाय। उस समय प्रणव लगाकर 'हि' इस बीज मन्त्र को तीन बार उच्चारण करे। यह उपनिषद् है। जो इस उपनिषद् के रहस्य को भलीभाँति जानता है, वही विद्वान् है।"

देखो, ब्रह्मचर्यावस्था में जो पलाश बेल के, पीपर या गूलर के दंड, मूँज का मेखला, यज्ञोपवीत आदि द्विजत्व के वाह्य चिन्ह धारण किये जाते हैं, ज्ञान होने पर जो इन्हें त्याग भी दे सकता है, वही शूर वीर है। वह भगवान् विष्णु का परम पद है। सूरि लोग-विद्वान् उपासक-ही उसे सदा देखते हैं। यह परमपद कैसा है ? आकाश में तेजोमय सूर्य के सदृश, परम व्योम में चिन्मय प्रकाश द्वारा सब ओर से व्याप्त है। उसी को विष्णु का परम पद कहते हैं। जो उपासक सदा सर्वदा साधना में सावधान रहकर सतत साधन करते रहते हैं, वे निष्काम ब्राह्मण उपासक ही उस परम पद को देख सकते हैं। वे ही यहाँ पहुँचकर उस परमधाम को जागृत किये रहते हैं। यही वेद का अनुशासन है, यही निर्वाण का अनुशासन वेद सम्मत है।"

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी ! शिखा सूत्रादि तो सत्कर्मों के पवित्र चिन्ह हैं, इनसे रहित द्विज तो म्लेच्छ के समान होता है, इनके त्याग का विधान श्रुति क्यों करती है ?"

सूतजी ने कहा—"ब्रह्मन् ! श्रुति का तात्पर्य इनके त्याग में नहीं है। जिनमें जप, अग्निहोत्र, तपस्या करते-करते इतनी सामर्थ्य आ जाय, वे इतने तपःपूत हो जायँ, कि महर्षि आरुणि

की भाँति इसी शरीर से ब्रह्मलोक तक पहुँच जायँ, उनके लिये फिर वाह्य चिन्हों की अपेक्षा नहीं रहती। वैसे शिखा सूत्र, अग्निहोत्र, जपादि को जो त्यागता है वह पतित हो जाता है, किन्तु इन्हें करते करते जो पूर्ण ज्ञानी हो जाते हैं, वे इन चिन्हों को त्याग भी दें तो उन्हें पाप नहीं लगता क्योंकि वे तो पुण्य और पाप दोनों से परे हो गये। इन वाह्य चिन्हों में उनकी आसक्ति नहीं रहती। संन्यासी इन्हें धारण किए रहे चाहें परित्याग कर दे। श्रुति में दोनों ही विधान हैं। शिखी वा अशिखी वा उपवीती अनुपवीती वा। शिखा सूत्रधारी भी संन्यासी होते हैं। ऐसा वेद का विधान है। यहाँ ज्ञान हो जाने पर इनकी अनुपदेयता में ही तात्पर्य है। संन्यासी तो इन चिन्हों को धारण किये ही रहते हैं। हाँ परमहंस जब वस्त्रों को भी त्यागकर दिगम्बर हो जाते हैं तो शिखा सूत्र को कहाँ बाँधे फिरे। तो भी परमहंस के लिये भी कोई आग्रह नहीं कि इन्हें त्याग ही दे। देखिये, पीछे जाबालोपनिषद् में जहाँ कुछ परमहंसों के नाम गिनाये हैं उनमें जड़भरत का भी नाम है। परमहंस जड़भरत जी के वर्णन में आता है वे मैला यज्ञोपवीत पहिने हुए थे। सो ब्रह्मन्! श्रुति का तात्पर्य इनके त्याग में नहीं है। भाव इतना ही है कि पूर्ण ज्ञान होने पर इन वाह्य चिन्हों की अपेक्षा नहीं, आग्रह नहीं। धारण किये रहे चाहें न भी धारण करे। यह उन्हीं लोगों के लिये है जिन्होंने जीवन भर विधि पूर्वक कठोरता के साथ तीनों काल सन्ध्या, अग्निहोत्र, जप, तपादि के नियमों का पालन किया है। जिन लोगों ने जीवन में इन नियमों का कभी पालन ही नहीं किया, उनकी बात तो पृथक रही, जिनके बाप-दादों ने भी कभी यज्ञोपवीत को छोड़कर सन्ध्या अग्निहोत्रादि नियम पालन नहीं किये। वे लोग इन चिन्हों का परित्याग करके 'जो मिथ्या

सन्यासी का वेष बना लेते हैं, यह तो सन्यास धर्म की बिडंबना है। कलिकाल में तो सन्यास का स्पष्ट ही निषेध है। निषेध होने पर भी जो अज्ञानी संन्यासाभिमानी दृष्टिगोचर होते हैं, यह तो युग का दोष है। कलिकाल का प्रभाव है, युगधर्म है। इसमें दोष किसी का नहीं। मुनियो ! आप अच्छा कर रहे हैं। आप इन सब चिन्हों के त्याग का कभी आग्रह न करें। आप सब श्रुति सम्मत आचरण कर रहे हैं। यह मैंने आपको सन्यास धर्म प्रधान आरुणि उपनिषद् का सार सिद्धान्त सुनाया। अब आप गर्भ उपनिषद् का सार सिद्धान्त सुनें।

गर्भोपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषद् है। यह भी गद्य पद्यात्मक है। इसके ५ मन्त्र भाग हैं। यह उपनिषद् दधीचि मुनि के पुत्र महर्षि पिप्पलाद द्वारा प्रकटित हुई है। इसमें शरीर का पूर्ण परिचय है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! गर्भोपनिषद् म शरीर का परिचय करात हुए इसे पञ्चात्मक, पाँचों में वर्तमान, षडाशय, षड् गुणयुक्त, सप्तधातु निर्मित त्रिमल, द्वियानि तथा चतुर्विध आहारमय बताया गया है। ये पारिभाषिक शब्द हैं। श्रुति स्वय इन सब की व्याख्या करके बताती है—

(१) पञ्चात्म कैस है ?

यह शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पञ्च भूतों से निर्मित होने के कारण पञ्चात्मक कहलाता है।

१—पृथ्वी भाग इस शरीर में कौन सा है ?

शरीर में जो भी कठिन वस्तुएँ हैं, वे सब पृथ्वी के ही भाग हैं। यह पृथ्वी ही शरीर को धारण करती है।

२—शरीर में जल का भाग कौन सा है ?

शरीर में जो भी गीली वस्तुएँ हैं, लार, खकार, स्वेद,

मल-मूत्रादि ये सब जलीय भाग हैं। यह शरीर को एकत्रित करता है।

३—शरीर में तेज का भाग कौन-सा है ?

जो भी शरीर में उष्णता है, वह तेज का भाग है। तेज उसे प्रकाशित करता है जैसे आँखों की ज्योति।

४—शरीर में वायु का भाग क्या है ?

जो भी धातुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाता है, घुमाता रहता है वही शरीर में संचार करने वाला तत्व वायु है। वायु शरीर के समस्त अवयवों को यथा स्थान रखता है।

५—इस शरीर में आकाश का भाग क्या है ?

जो भी शरीर में छिद्र हैं, वे सब आकाश के भाग हैं, यह आकाश ही शरीर में अवकाश प्रदान करता है। इस प्रकार इन पाँचो के कारण शरीर पञ्चात्मक कहलाता है।

(२) पाँचों में वर्तमान—पाँच ज्ञानेन्द्रियों में ही यह वर्तमान रहता है। (१) कान शब्दों को ग्रहण करते हैं, (२) त्वचा स्पर्श का अनुभव कराती है, (३) नेत्र रूप ग्रहण कराते हैं, (४) जिह्वा रसास्वादन का अनुभव बताती है, तथा (५) नासिका सुगन्ध दुर्गन्ध का ज्ञान कराती है। ये तो ५ ज्ञान में वर्तमान हुए। अब (१) उपस्थ द्वारा आनन्दानुभव होता है, (२) पायु मलोत्सर्ग कराता है, (३) वाक् इन्द्रिय द्वारा शब्द बोलता है, (४) बुद्धि द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है और (५) मन द्वारा संकल्प करता है। इस प्रकार यह इन पाँच पाँचों में वर्तमान रहता है।

(३) यह शरीर षडाश्रय कैसे है ?

ये जो मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कड़वे और कषाय छः रस हैं। इनका शरीर द्वारा ही आस्वादन होता है अतः शरीर षडाश्रय है।

(४) यह शरीर षड्गुण योग युक्त कैसे है ?

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद षडजादि सात तो ये स्वर और इष्ट, अनिष्ट तथा प्रणिधान कारक (जैसे ओंकार आदि हैं) तीन इन्हें भी मिला दो तो दस प्रकार के शब्द हुए और शुक्ल, रक्त, कृष्ण, धूम्र, पीत कपिल और पाण्डर ये सात रंग हुए। इस प्रकार (१) रस, (२) स्वर, (३) इष्ट, (४) अनिष्ट, (५) प्रणिधान और (६) रूप इन ६ गुणों से यह शरीर युक्त है।

(५) यह शरीर सप्तधातु युक्त कैसे है ?

इस शरीर में सात धातुएँ निर्मित कैसे होती हैं ? जैसे कोई देवदत्त नाम वाला पुरुष है, उसने किसी भी भाँति खाने पीने आदि के पदार्थ जुटा लिये। उनमें उसने खाने की मीठी, खट्टी, नमकीन, चरपरी, कड़वी, तथा कसैली रसों की वस्तुएँ जुटायीं। अपनी रुचि के अनुसार दाल, भात, दही बड़े, चटनी, खीर, अचार आदि बनाकर खाये। खाये हुए पदार्थों से भीतर पहिले पेट में रस बनता है। रस से रक्त, रक्त से माँस, माँस से मेद, मेद से स्नायु, स्नायुओं से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से वीर्य, वीर्य से सातु धातुएँ रस से उत्पन्न होती हैं। शुक्र अथवा वीर्य स्त्री के रज के संयोग से गर्भ निर्माण करने में समर्थ होता है। समस्त धातुएँ विशेषकर हृदय में रहती हैं। हृदय में अंतराग्नि उत्पन्न होती है। जठर की जो अग्नि है उसी में पित्त उत्पन्न होता है, पित्त के स्थान में वायु और वायु से हृदय का निर्माण-स्रज क्रम से-होता है।

ऋतुकाल के अनंतर स्त्री जब पुरुष द्वारा गर्भ धारण करती है, तो रात्रि में रज और वीर्य मिलकर कलल बन जाता है। सात रात्रियों में वह कलल बुदबुद (बबूला) के आकार का होजाता है।

फिर वह बुदबुद शनैः-शनैः कठोर होते-होते पन्द्रह दिन में एक स्थूल कड़ा पिंड (गोला-सा) बन जाता है। फिर भी वह उतना कठिन नहीं होता। एक मास में कड़ा कठिन कुछ लम्बा हो जाता है। दो महीने में उसमें सिर निकल आता है। तीन महीने में नीचे की ओर पैर भी निकलने लगते हैं। चौथे महीने पैर में गुल्फ-टखने आदि उँगलियों के चिन्ह पेट तथा कटि प्रदेश बन जाते हैं। पाँचवें महीने में पीठ की रीढ़ की छोटी छोटी हड्डियाँ (कसेरुकायें) बन जाती हैं। छटे महीने में मुख, नाक, नेत्र तथा कान आदि बन जाते हैं। सातवें महीने में जब शरीर पूर्ण बन जाता है, तब उसमें जीवात्मा प्रवेश करता है। जीव के प्रवेश करते ही बच्चा निकलने का प्रयत्न करता है, किन्तु पूर्णता प्राप्त न होने से निकल नहीं सकता। कोई-कोई निकल भी आते हैं, तो वे दुर्बल रहते हैं—या मर जाते हैं। आठवें महीने में सब लक्षणों से पूर्ण हो जाता है। यदि पिता के वीर्य का भाग अधिक हुआ तो लड़का होता है, माता के रज का भाग अधिक हुआ तो लड़की और दोनों का बराबर हुआ तो नपुंसक बालक होता है। समागम के समय दोनों में उल्लास और प्रसन्नता चाहिये, क्योंकि यदि चित्त में व्याकुलता आ गयी तो उसका प्रभाव सन्तान पर पड़ेगा। व्याकुलता के कारण सन्तान अन्धी, कुबड़ी, खोड़ी तथा बौनी होगी। किसी कारण परस्पर की वायु के संघर्ष से वीर्य के दो भाग हो जायँ, उसके टुकड़े हो जायँ तो जितने भाग हो जायँगे, उतनी ही सन्तानें एक साथ उत्पन्न होती हैं।

जब यह पञ्चभूतात्मक शरीर आठवें महीने में समर्थ हो जाता है, तब पाँच ज्ञानेन्द्रियों में निश्चयात्मिक बुद्धि होती है, जिससे शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का ज्ञान होता है, तब

आत्मा एकाक्षर प्रणव का चिन्तन करता है। इसके सोलह विकार और आठ प्रकृतियाँ होती हैं। आठ प्रकृति ये हैं—(१) मूल (२) महत्तत्व, (३) अहंकार, (४) शब्द, (५) रूप, (६) रस, (७) गन्ध, और (८) स्पर्श। सोलह विकार ये हैं—(१) कान, (२) नाक, (३) मुख, (४) चक्षु, (५) त्वचा, (६) हाथ, (७) पैर, (८) जिह्वा, (९) गुदा, (१०) शिश्न, (११) पृथ्वी, (१२) जल, (१३) तेज, (१४) वायु, (१५) आकाश और (१६) मन।

पेट में बच्चा खाता क्या है ? इस विषय में बताते हैं, कि माता जो कुछ खाती है, उसका जो रस है, वह नाल द्वारा नाभि के छिद्र से उसके शरीर में पहुँचता है। उसी से उसके प्राण तृप्त होते हैं। माता के पेट में जब बालक रहता है तो माता के एक अपना हृदय और एक बालक का हृदय दो हृदय होते हैं। इसीलिये वह द्विहृदया कहलाती है। नाड़ियों के सूत्रों द्वारा माता के हृदय का रस बालक के हृदय में पहुँचता है, इससे सम्पूर्ण शरीर का पालन पोषण होता है।

मनुष्य शरीर में जब बालक परिपूर्ण हो जाता है, सर्व लक्षणों से सम्पन्न हो जाता है, तब नववें महीने में उसे अपने पिछले जन्मों का स्मरण होता है। जीव तो ऋषि है, शरीर के छोटे बड़े होने से न वह छोटा बड़ा होता है, न उसका ज्ञान ही लुप्त होता है, उस समय पूर्व जन्मों के किये शुभ अशुभ कर्म उसके सम्मुख आ जाते हैं, तब वह सोचता है—"हाय ! मैंने सहस्रों जन्मों को देखा है, बहुत से शरीर धारण किये उनमें नाना प्रकार के अन्नपानों का रसास्वादन किया, नानायोनियों में अनेकों माताओं के स्तनों का पान किया, कितनी ही बार जन्मा कितनी ही बार मरा। मैंने अपने कुटुम्बियों के पालन पोषण के निमित्त अनेकों पाप कर्म किये, किन्तु उन सबका फल मैं अकेला

ही भोग रहा हूँ। वे लोग तो खा पीकर चम्पत हुए। किसी ने मेरे भोगों में भाग नहीं बँटाया। मैं यहाँ दुःख के समुद्र में पड़ा बिल-बिला रहा हूँ, मुझे इससे छुटकारे का कोई उपाय नहीं सूझता। इस प्रकार पश्चात्ताप करते-करते वह विह्वल होकर भगवान् की स्तुति करता है—

> प्रभो! यहाँ तैं मोइ निकारें अब भूलूँ नहिँ।
> सांख्ययोग अभ्यास करूँ तप विपति सबहिँ सहि॥
> अशुभनि को क्षय करें मुक्तिकूँ प्रभुवर! देवें।
> हमकूँ देइँ निकारि तुम्हें श्रद्धातें सेवें॥
> हे नारायण! महेश्वर, अशुभ नाश, कीजे प्रभो!
> ध्यान सनातन ब्रह्म नव, करूँ उबारें हे विभो!!

इस प्रकार दुखित होकर पूर्व कृत कर्मों का पश्चात्ताप करते हुए भगवान् की स्तुति करता रहता है। नववें महीने में वह उदर से खिसककर योनि द्वार के समीप आ जाता है। योनि रूप यन्त्र सँकरा मार्ग होने से उसमें पिचता हुआ प्रसूति मारुत के द्वारा बड़े कष्ट के साथ बाहर निकलता है। बाहर निकलते ही वैष्णवी वायु के स्पर्श से-परिवार के माया जाल के संसर्ग से-पिछले जन्म की मृत्यु आदि सभी बातों को भूल जाता है। जो पूर्वजन्म के शुभाशुभ कर्म माता के उदर में इसके सम्मुख आये थे, वे भी माया के प्रभाव से हट जाते हैं।

इस देह का नाम शरीर क्यों है?

इसका नाम शरीर इसलिये है कि अग्नियाँ इसमें आश्रय लेती हैं ( अग्नयो ह्यत्र श्रियन्ते=आश्रयन्ते=यस्मात शरीरम् ) इस शरीर के भीतर ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और कोष्ठाग्नि तीन अग्नियाँ आश्रय लेती हैं। जठराग्नि या कोष्ठाग्नि तो वह है जो

खाये, पीये, चाटे अथवा चूसे अन्नादि को पचाती है। दर्शनाग्नि वह है जो भाँति भाँति के रंग बिरंगे दृश्यों को दिखाती है। ज्ञानाग्नि उसे कहते हैं जो शुभ और अशुभ कर्मों को सम्मुख लाकर प्रत्यक्ष समुपस्थित कर देती है। बाहर में ये तीन अग्नियाँ गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि के नाम से विख्यात हैं। शरीर के भीतर इसके तीन स्थान हैं। आहवनीय अग्नि वाणी के रूप में मुख में निवास करती है। गार्हपत्याग्नि उदर में और दक्षिणाग्नि हृदय में रहती है। यह शरीर भी एक प्रकार का यज्ञ ही है। जीवात्मा यजमान है, बुद्धि यजमान पत्नी है, मन ब्रह्मा है, लोभ मोहादि बलि के पशु हैं। धृति ही दीक्षा है। सतोष तथा ज्ञान इन्द्रिय आदि यज्ञ के पात्र हैं। कर्मेन्द्रियाँ हवन करने की सामग्रियाँ हवि हैं। सिर कपाल है, केश ही दर्भ स्थानीय हैं। मुख अन्तर्वेदिका है, सिर चतुष्कपाल है, पार्श्व की दन्त पंक्तियाँ षोडश कपाल हैं। इस शरीर में १०७ मर्म स्थान हैं। १८० सन्धि स्थान हैं। एक सौ नौ स्नायु हैं। सात सौ शिरायें हैं। पाँच सौ मज्जायें हैं। तीन सौ साठ अस्थियाँ हैं। साढे चार करोड रोम हैं। आठ पल का हृदय है, बारह पल की जिह्वा है, एक प्रस्थ पित्त है, एक आढक (२॥ सेर) कफ है, कुडव मात्र (एक पाव) वीर्य है। दो प्रस्थ (दो सेर) मेद है। मल और मूत्र का कोई निश्चित प्रमाण नहीं। मनुष्य जितना अन्न पान करता है, उसी के अनुरूप मल मूत्र बन जाता है। यही शरीर का परिचय है। यह गर्भोपनिषद् रूप मोक्ष शास्त्र पिप्पलाद मुनि द्वारा प्रकटित है। इसीलिये इसका नाम पैप्पलाद मोक्ष शास्त्र है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह मैंने गर्भोपनिषद् का सार सिद्धान्त आप सबको सुना दिया। अब आप नारायणाथर्व शिर उपनिषद् तथा महानारायण उपनिषद् का सार सिद्धान्त आगे

सुनें। ये उपनिषदें भगवान् नारायण के महत्त्व को प्रकटित करने वाली हैं।"

छप्पय

( १ )

*ताल, वेणु, मिरदंग, नवम, भेरी, मेघहु धुनि।*
*मेघ नाद अभ्यास करै चिचिणि तन महँ पुनि॥*
*गात्रभंज पुनि खेद, कंप फिरि तालु स्रवत है।*
*अमृतपान विज्ञान-परा वाचा अष्टम है॥*
*दिव्य चक्षु अदृश्य तन, अमल दशम परब्रह्म सम।*
*ब्रह्म आत्म संनिधि रहे, होइ निरञ्जन शान्ततम॥*

( २ )

*उपनिषद हु आरुणिक प्रजापति अरुण सुनाई।*
*संन्यासिनि विधि नियम महन संन्यास बताई॥*
*अहँता ममता त्यागि दण्ड कौपीनहिँ धारै।*
*ब्रह्मचर्य व्रत साधि दुष्ट चंचल चित मारै॥*
*काम, क्रोध, मद, मोह अरु, लोभ दम्भ पाखंड तजि।*
*उदर पात्र करि सबहिँ तजि, बनि संन्यासी ब्रह्म भजि॥*

( ३ )

*है उपनिषद जो गर्भ वीर्य रज गर्भ बनावै।*
*शनैः शनैः तन अङ्ग उदर में सब बनि जावै॥*
*नवम मास में पूर्ण कर्म सब सम्मुख आवै।*
*जनम मरन दुख सुमिरि, ब्रह्मकूँ जीव मनावै॥*
*अब यदि निकसूँ गर्भ तैं, फिरि अधरम नहिँ करुंगो।*
*जगके सब व्योहार तजि, नित प्रभुकूँ हा! भजुंगो॥*

( ४ )

अग्नि तीनि तन माहिँ ज्ञान, दर्शन, जठराग्नी ।
रस जठराग्नि पचाय लखै रूपहिँ दृष्याग्नी ॥
ज्ञानाग्नी शुभ अशुभ करन जानत समुझावत ।
हृदय, उदर, मुख माहिँ तीनिहू अगिनी निवसत ॥
यह तन यज्ञ समान है, है आत्मा यजमान–मख ।
मन ब्रह्मा, लोभादि पशु, ज्ञानेन्द्रिय मख पात्र लख ॥

( ५ )

धैर्य और सन्तोष कही दीक्षा, हवि इन्द्रिय ।
सिर कपाल कुच-कुशा, कह्यो मुख अन्तर्वेदिय ॥
है सिर चतुष कपाल पार्श्व की दन्त पंक्ति जो ।
षोडस कहे कपाल यज्ञ में व्यवहृत हों सो ॥
अब तनमें कितने कहौं, कहें सबनि परिमाण हैं ।
मर्म एक सौ सात हैं, शत अरु अस्सी सन्धि हैं ॥

---

इति हंस, आरुणिक और गर्भोपनिषद् सार
समाप्त ।

# नारायणाथर्वशिर, महानारायण तथा परमहंस उपनिषद्-सार

( २८६ )

ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः ।
ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युत ॥*

(ना० उ० मं० ४)

छप्पय

*नारायण ही एक सृष्टि सबरी उपजावैं ।*
*नारायण को मन्त्र जपै पुनि नहिँ जग आवैं ॥*
*नारायण सब देव काल अरु दिग नारायण ।*
*नारायण सब ठौर सकल जगमय नारायण ॥*
*नारायण ब्रह्मण्य हैं, हैं मधुसूदन ब्रह्म-पर ।*
*नारायण देवकितनय, प्रणव, सत्य परपुरुष वर ॥*

यह सम्पूर्ण जगत नारायणमय है। नारायण से परे कोई तत्त्व नहीं। नारायण के नाम से बढ़कर कोई नाम नहीं, नारायण के मन्त्र से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं, नारायण के रूप से बढ़कर किसी का रूप नहीं। नारायण के धाम से बढ़कर कोई

---

* देवकी के पुत्र ब्रह्मण्य हैं, मधु दैत्य को मारने वाले भी ब्रह्मण्य हैं। पुण्डरीकाक्ष—कमलनयन—भगवान् भी ब्रह्मण्य हैं, और अच्युत विष्णु भी ब्रह्मण्य हैं।

धाम नहीं। जगत् में जो भी कुछ हो रहा है, सब नारायण की ही लीला है, अतः एक मात्र सेव्य, सर्वश्रेष्ठ उपासनीय, सबके वन्दनीय, सबके द्वारा अर्चनीय श्रीमन्नारायण ही हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! नारायणीय अथर्व उपनिषद् में श्रीमन्नारायण को ही सभी का एकमात्र उत्पत्ति का कारण बताया गया है। सब रूपों में नारायण ही नारायण [illegible] हो रहे हैं। इसमें जो अष्टाक्षर नारायण मन्त्र है [illegible] तथा उसका महिमा बतायी गयी है। यह ५ [illegible]-सी उपनिषद् है। भगवान् नारायण की [illegible] कहा गया है, जब श्रीमन्नारायण की प्रजा [illegible] कामना हुई तब उनसे मन, समस्त इन्द्रियाँ, पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश की उत्पत्ति हुई। नारायण से ही ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, प्रजापति, द्वादश आदित्य, एकादश रुद्र, अष्टवसु [illegible] वेद और ऋचाय उत्पन्न हुईं। इन सबकी [illegible], स्थिति तथा लय नारायण से ही है। यह ऋगवेदीय उपनिषद् का [illegible] है। नारायण नित्य हैं। ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, काल, [illegible] दिशायें, ऊपर-नीचे, भीतर, बाहर जो कुछ है, [illegible] है और होगा, यह सब नारायण ही हैं। एकमात्र [illegible] निष्कलङ्क, निरञ्जन निर्विकल्प, अनिर्वचनीय तथा [illegible] है। उनके अति-रिक्त कोई दूसरा देव है ही [illegible] जानता है, वह [illegible] हो जाता है। यह यजुर्वेदीय [illegible] का अभिप्राय [illegible]

और गौ आदि पशुओं का स्वामित्त्व प्राप्त होता है। उसे अमृतत्त्व को प्राप्ति होती है। यह सामवेदीय उपनिषद् का कथन है।

प्रत्येक आनन्द ब्रह्मपुरुष प्रणव स्वरुप है। अकार, उकार और मकार यही अनेकधा हो जाते हैं। इनका सम्मिलित रूप ॐ है। इसका जप करने से योगी जन्म मृत्यु रूप बन्धन से छुट जाता है। अष्टाक्षर मन्त्र की उपासना करने वाला पुरुष वैकुण्ठधाम में जाता है। यह वैकुण्ठधाम विज्ञान घन है, पुण्डरीक है, यह विद्युत् के सदृश परम प्रकाशमय है। देवकीनन्दन भगवान् मधुसूदन, पुण्डरीकाक्ष, विष्णु तथा अच्युत ये ब्रह्मण्य हैं। भगवान् नारायण कारण पुरुष तथा समस्त भूतों में स्थित हैं। कारण रहित परब्रह्म श्रीमन्नारायण ही हैं। यह अथर्ववेदीय उपनिषद् का प्रतिपादन है।

जो पुरुष प्रातःकाल इस उपनिषद् का पाठ करता है उसके समस्त रात्रिकृत पाप नष्ट हो जाते हैं। जो सायंकाल में पाठ करता है, उसके दिन भर के किये पाप नष्ट हो जाते हैं। जो दोनों काल पाठ करता है वह अपाप हो जाता है। जो मध्यान्ह काल में सूर्याभिमुख होकर पाठ करता है उसके पाँच महापातक तथा समस्त उपपातक नष्ट हो जाते हैं। इसके पाठ से समस्त वेदों के पारायण का फल मिल जाता है। नारायण का सायुज्य प्राप्त होता है। जो इस प्रकार जानता है वह निश्चय ही नारायण का सायुज्य प्राप्त करता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यही नारायणाथर्व शिर उपनिषद् है। इसे कृष्णयजुर्वेदीय नारायणोपनिषद् भी कहते हैं। अब आप महानारायणोपनिषद् का सार सिद्धान्त श्रवण करें।"

महानारायणोपनिषद् अथर्ववेदीय उपनिषद् है। इसमें

२५ खण्ड हैं। प्रथम खण्ड के १२ मन्त्रों में सब कुछ श्रीमन्नारायण से ही हुआ है इसी का वर्णन है। वही नारायण अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, शुक्र, अमृत, आप, प्रजापति, काल, ऊपर नीचे सब कुछ है। उसे कोई इन चर्म चक्षुओं से देख नहीं सकता। जो इसे जान लेते हैं वे अमृत हो जाते हैं।

द्वितीय खण्ड के १० मन्त्रों में भगवान् के विश्वरूप का वर्णन है। वह नारायण विश्वतोमुख है। यह विश्व ही उसकी चक्षु है। वह विश्वमय है, वह विश्वरूप नारायण हमारा कल्याण करें।

तृतीय खण्ड में (१) सहस्राक्ष, (२) महादेव, (३) नन्दिकेश्वर, (४) वक्रतुण्ड, (५) षड्मुख, (६) पावक, (७) वैश्वानर, (८) भास्कर, (९) दिवाकर, (१०) आदित्य, (११) तीक्ष्णशृङ्ग, (१२) कात्यायनी, (१३) महाशूलिनी, (१४) सुभगा, (१५) तत्पुरुष (गरुड) (१६) नारायण, (१७) नृसिंह, और (१८) चतुर्मुख (ब्रह्मा) इनके १८ मन्त्रो मे अठारह गायत्री मन्त्र हैं।

चतुर्थ खण्ड में १३ मन्त्र हैं। इनमें पहिले के तीन मन्त्रों मे दूर्वा की स्तुति है। चार मन्त्रों में पृथ्वी की स्तुति है। तीन में लक्ष्मी देवी की, एक में जल के अधिष्ठातृदेव वरुण की और एक इन्द्र, वरुण, बृहस्पति तथा सविता सबकी सम्मिलित स्तुति है। अन्त में प्रार्थना की है कि जल और समस्त औषधियाँ हमारे लिये तो सुमित्र का काम करें, किन्तु जो हमसे द्वेष करते हैं और हम भी जिनसे द्वेष करते हैं, उनके लिये जल और औषधियाँ दुर्मित्र का काम करें।

पचम खण्ड मे १२ मन्त्र हैं। वे वरुण परक हैं। वरुणदेव से पवित्र करने की प्रार्थना की गयी है। अधिक खाने से अधिक पीने से, उग्र प्रति ग्रह लेने से जो अशांति अपवित्रता हो, वह

जल में वह जाय। गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतद्रि आदि नदियाँ, समुद्रादि जितने जलाशय हैं उन सबके अधिष्ठातृदेव वरुण हमें पवित्र करें। इन मन्त्रों को अघमर्षण–पाप को नाश करने वाले–कहा गया है।

छटे खण्ड में ८ मन्त्र हैं। इनमें पहिले मन्त्र में चन्द्रमा की स्तुति है फिर अग्नि की स्तुति है।

सातवें खण्ड में ६ मन्त्र हैं, ये अग्नि में देवताओं के निमित्त हवन करने के स्वाहाकार मन्त्र हैं। देवताओं के लिये स्वाहा कह कर बलि दी जाती है और पितरों को स्वधा कह कर।

अष्टम खंड में ५ मन्त्र हैं इसमें तप की महिमा है। ऋत, सत्य, वेद, शान्त, दान, यज्ञ जो भी ब्रह्म उपास्य हैं सब तप है। जैसे पुष्पित वृक्ष के पुष्पों की दूर से ही सुगन्ध आती है। ऐसे ही पुण्य कर्मों की दूर से सुगन्धि आती है। अपनी जीवात्मा को झूठ से बचाये रखे। फिर ईश्वर की महिमा बताकर उन्हीं से समस्त विश्व की उत्पत्ति का वर्णन है।

नवम और दशम खंड में भिन्न-भिन्न देवताओं के स्तोत्र हैं। इसमें प्रार्थना की गयी है हमारे पापों का नाश हो, सब मधु वाले घृत वाले हों। फिर अग्नि की, फिर पूर्ण पुरुष नारायण की तथा त्याग की महिमा है। त्याग की महिमा बताते हुए कहा है कर्म से, पुत्रादि सन्तानों से, धनादि से अमृतत्व प्राप्त नहीं होता, केवल एकमात्र त्याग से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। फिर महेश्वर श्रीमन्नारायण की महिमा गायी है।

एकादश खंड में नारायणदेव की महिमा है। नारायण परब्रह्म हैं, नारायण ही परमतत्व हैं, नारायण ही ज्योति स्वरूप हैं, नारायण ही आत्मा हैं, भीतर बाहर सभी को व्याप्त करके नारायण ही नारायण हैं। वे ही सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। फिर हृदय के

मध्य में जो ज्योति शिखा है, उस शिखा के मध्य में परमात्मा बैठे हैं। वे ही ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, अक्षर, परम तथा विराट् हैं। फिर कहा है काल स्वरूप मैं ही हूँ, मैं काल का कलेवा नहीं हूँ।

द्वादश खंड में आदित्य महिमा तथा त्रयोदश में रुद्र और पृथ्वी महिमा है, चौदहवें मे जल, अग्नि, सूर्य के जो सन्ध्या में प्रातः मध्यान्ह और सायं में आचमन के वे हैं। पन्द्रहवें खंड में गायत्री देवी की महिमा है। पहिले गायत्री का आवाहन है, फिर सप्त व्याहृति सहित चतुष्पदी गायत्री को बताया है फिर ओंकार की महिमा बताकर गायत्री विसर्जन मन्त्र है। फिर पंच प्राणों का अमृत उपस्तरण हवन के मन्त्र हैं।

षोडश खंड में प्राणों के श्रद्धा हवन मन्त्र हैं, फिर मेधा देवी महिमा और उनकी स्तुति है। सप्तदश खड में सद्योजात महादेव की महिमा है, रुद्र गायत्री है, फिर सोम प्राप्त्यर्थ त्रिसुपर्ण पाठ है, फिर मधुमती ऋचायें हैं। अष्टादश खंड में ३ मन्त्रों में एनस अवयन के स्वाहान्त मन्त्र हैं। इसी प्रकार उन्नीसवें खंड में तिलों की महिमा बताकर देवता के नाम से हवन करने के स्वाहान्त मन्त्र हैं।

बीसवें खंड में भूत बलि के मन्त्र कहकर इन्द्र, वरुण आदि की स्तुति के मन्त्र हैं इन सबमें स्वाहान्त हवन के मन्त्र हैं।

इक्कीसवें खंड में सत्य, तप, दम, शम, दान, धर्म, प्रजा, अग्नि, यज्ञ, मानस, ब्रह्मा इन सबकी महिमा बताकर अन्त में कह दिया है ये ही श्रेष्ठ हैं। अतः इनमें ही रमण करते हैं।

बाईसवें में भी सत्य, तप, दम, शम, दान, धर्म, प्रजा, अग्नि और अग्निहोत्र इन सबको परम-श्रेष्ठ-बताया गया है। तेईसवें खड में भी यज्ञ, मानस को परम बताकर सृष्टि का क्रम बताया है। चौबीसवें खंड में सब कुछ ब्रह्म को ही बताकर ओंकार की

भावना से उसे आत्मा में मिलाने को कहा है। इसे देवताओं से भी गुह्य महोपनिषद् कहा है। इसका फल बताते हुए कहा है जो इसकी महिमा को जानता है वह ब्रह्म की महिमा को जानता है।

चौबीसवें अन्तिम खंड में इस शरीर की अग्निहोत्र से तुलना करके बताया है। जो इसे जानता है वह ब्रह्म की महिमा को प्राप्त होता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह उपनिषद् उपासना परक है। उपासना के प्रायः नित्य के सभी मन्त्र इसमें आ गये हैं। सभी देवताओं की महिमा और स्तुति के दिव्य-दिव्य मन्त्र इसमें हैं। उपासकों के लिये यह उपनिषद् सर्वश्रेष्ठ है। ऋत, संक्षेप में इसका सारातिसार सुना दिया। विशेष सब तप है। उपनिषद् का अध्ययन करना चाहिये।

अब आप परमहंस उपनिषद् का सार सुनिये। नारदजी ने भगवान् के समीप जाकर पूछा—"परमहंसों का अत्यन्त दुर्लभ मार्ग क्या है?" इस पर भगवान् ने कहा—"जो सबकी ममता त्यागकर केवल एकमात्र मुझमें ही प्रतिष्ठित रहते हैं। ऐसे सर्वस्व त्यागी परमहंसों के हृदय में मैं ही सदा रहता हूँ। वह परमहंस पुत्र, मित्र, पत्नी समस्त बन्धु बान्धव सम्बन्धियों को त्याग देता है। यहाँ तक कि शिखा, यज्ञोपवीत, स्वाध्याय तथा समस्त कर्मों का ब्रह्मांड का भी परित्याग कर देता है। शरीर निर्वाह और लोकोपकार के निमित्त कोपीन, दंड, अच्छादन वस्त्र इतना ही रखता है।

परमहंस तो दंड, शिखा, यज्ञोपवीत, अच्छादन को भी अन्त में त्याग देता है। वह शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान में सम रहता है। छः जो उर्मियाँ हैं उनसे रहित होता है। निंदा,

गर्व, मत्सर, दम्भ, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, असूया तथा अहङ्कार आदि समस्त दुर्गुणों का परित्याग करके इस शरीर को मृतवत मानता है। उसकी सदा परम अद्वैत में स्थिति रहती है। जिसने ज्ञान रूपी दंड धारण कर लिया है वही एक दंडी है। जिसने केवल काष्ठ का दंड ही धारण कर लिया है, जो तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य, शम, दमादि गुणों से वर्जित है। केवल भिक्षा माँगकर खाने के ही लिये सन्यासी का वेष बना लिया है, वह पापी है, सन्यासियों की वृत्ति का नाश करने वाला है। वह पापी महारौरवादि नरकों में [illegible]

पोडश [illegible] ज्ञान से पवित्र हुआ परमहंस विधि निषेध से परे
महिमा और [illegible] है। वह नमस्कार, अग्निहोत्र, निन्दा, स्तुति, आवाहन, विसर्जन, मन्त्र, ध्यान, उपासना, लक्ष्य-अलक्ष्य सबसे दूर रहकर अनिकेत होकर रहे। द्रव्य का स्पर्श न करे। परमहंस भिक्षुकी की रस और द्रव्य में यदि आसक्ति हो जाय तो वह महानीच पुल्कस ब्रह्म हत्यारा हो जाता है। दुःख सुख, शुभ-अशुभ, में सर्वदा समान भाव से रहे। जो इस प्रकार पूर्णानन्द एक बोध ब्रह्म को 'अहमस्मि' इस भाव से भजता है वह परमहंस कृतकृत्य हो जाता है।

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! यह मैंने परमहंस उपनिषद् का सार सुनाया अब आप आगे ब्रह्म उपनिषद् आदि उपनिषदों का सार श्रवण करेंगे।"

छप्पय

( १ )

*परमश्रेष्ठ उपनिषद् महानारायण सुन्दर।*
*नारायण इस्तोत्र कह्यो पद-पद में सुखकर॥*

*देवनि महिमा कही नित्य के मन्त्र बताये।*
*हवन यज्ञ के मन्त्र पृथक देवनि जतलाये॥*
*नारायणमय विश्व सब, नारायण जग जनक हैं।*
*नारायण पालन करें, नारायण ही हरत हैं॥*

( २ )

*परमहंस उपनिषद ज्ञान को सार बतावै।*
*त्यागै ममता मोह ब्रह्मकूँ तबई पावै॥*
*एक त्यागई सार ग्रहन बन्धन को कारन।*
*त्यागि जगत जंजाल ब्रह्मके होउ परायन॥*
*त्याग, ज्ञान, बिनु वेष जे, संन्यासी धारन करें।*
*ते अति निन्दित पतित खल, रौरवादि नरकनि परें॥*

इति नारायणाथर्वशिर, महानारायण तथा परमहंसोपनिषद् सार समाप्त

—o—